दो शब्द

मैंने 24 मई, 1977 को पहली बार महर्षि महेश योगी के योगकेन्द्र में ध्यान की दीक्षा ली। धीरे धीरे उनके द्वारा लिखी पुस्तकें- (1) Science of Being, (2) Commentry on Gita, (3) Meditation का अध्ययन भी किया और मुझे एहसास हुआ कि जीवन का आधार मात्र चेतना का विकास है। सारा ज्ञान चेतना के विकास में निहित है। चेतना का विकास बढ़ने के साथ-साथ जीवन के सारे सुख उपलब्ध होने लगेंगे।

अत: धीरे धीरे 1977 से पहले की जिन्दगी में रुचि कम होने लगी और अपनी चेतना के विकास के रास्ते पर तेजी से अग्रसर हुआ।

1977 से पूर्व मैं पिता के द्वारा 1920 में स्थापित कश्मारी होटल के संचालन में व्यस्त था। 1980 में हमारे जीवन के व्यवसाय में हमारे एक मित्र, मेरे पार्टनर के रूप में आए, जिससे कि मुझे ध्यान का समय और अधिक मिलने लगा। चेतना का विकास, ज्यों ज्यों होता गया, परिस्थितियां विकास के अनुकूल होती गईं। अत: 4 फरवरी 1984 को पुराना व्यवसाय के कार्य से पूर्ण रूप से छुट्‌टी मिल गई। पूरा समय मात्र ध्यान के अभ्यास और स्वाभाविक दिनचर्या में व्यतीत होने लगा। लगभग 16-17 महीने जीवन ऐसा ही चलता रहा और इसी बीच मुझे उचित वातावरण देने हेतु एक महान आत्मा, परम पूज्य श्री हृदय नारायण के माध्यम से-जो कि मेरे चाचा जी हैं - मुझे एक अनोखा वातावरण प्रकृति ने प्रदान किया और मानस साधना मण्डल के कुछ साधक मुझसे ध्यान सीखने लगे।

1990 से मेरे सम्पादन में 'ध्यान पत्रिका' मासिक प्रारम्भ हुई। यह पत्रिका अभी भी प्रकाशित हो रही है। इस पत्रिका का यह पांचवां वर्ष चल रहा है। इसके माध्यम से अपनी चेतना के विकास के आधार पर जीवन के अलग अलग पहलुओं का विवेचन हुआ है। धीरे धीरे मुझे यह महसूस होने लगा कि पत्रिका के पुराने अंक हमेशा के लिए बनाए रखना, हमारे लिए असम्भव होगा। इसके माध्यम से प्रकाशित आध्यात्मिक लेख, उन साधकों के लिए बहुत लाभदायक होंगे - जो जीवन को समझने हेतु चेतना के विकास का रास्ता अपनाते हैं। अत: इस उद्देश्य से कि बीतते हुए समय के साथ, ये आध्यात्मिक लेख लोप न हो जांय, इन लेखों को कुछ छोटी छोटी पुस्तिकाओं में प्रकाशित करने की बात मेरे मन में उठी। इस प्रेरणा को ईश्वर द्वारा दी गई प्रेरणा समझकर, यह पुस्तक प्रकाशित की जा रही है।

बहुत दिनों से समाज अति व्यस्त जीवन की ओर ही बढ़ता जा रहा है। लोग ज्यादा मोटी किताबों की ओर आकर्षित भी नहीं हो पाते। इसीलिए मैं पत्रिका में छपे अपने सारे आध्यात्मिक लेखों को, जिनका मूल ध्येय केवल जीवन के अलग अलग पहलुओं का रूप दर्शाना है - लगभग 100 पृष्ठ की पुस्तकों के माध्यम से पुनर्मुद्रित करा रहा हूं। अत: यह पुस्तिका कई भागों में छपेगी।

प्रथम भाग में जनवरी 1990 से नवम्बर 1990 अर्थात् ग्यारह महीने की पत्रिकाओं में छपे हुए लेख रखे गए हैं।

शेष अंकों के लेख आने वाले भागों में रखे जायेंगे। पत्रिका के कुछ अंकों में कुछ प्रश्नोत्तर भी हैं। सारे प्रश्नोत्तर किसी एक पुस्तक में ही प्रकाशित किए जायेंगे।

जैसा कि सारे साधक जानते हैं - आन्तरिक सुख में लीन रहने के कारण, और हिन्दी भाषा लिखने में प्रवीण भी न होने के कारण, मैंने कभी कोई लेख स्वयं नहीं लिखा। ये लेख केवल मेरे अलग अलग सत्संगों की मेरे शब्दों में प्रस्तुति मात्र है; जिन्हें मैंने बहुत से ऑडियो कैसेट (Audio Cassetts) के माध्यम से भी साधकों के बीच प्रस्तुत किया है। इनमें से ज्यादातर लेख का डिक्टेशन श्री कुबेर प्रसाद गुप्त जी को दिया और उनके परिश्रम की मदद से ही अभी तक की पत्रिकाएं छपी हैं; जिनके लिए मैं हमेशा ही उनका आभारी रहूंगा।

हस्ताक्षर

डॉ० शम्भू नाथ

विषय–सूची

क्रमांक		पृष्ठ संख्या
	दो शब्द	
1.	अहम (EGO)	4–27
2.	आध्यात्मिक शिक्षा	28–41
3.	खण्ड और अखण्ड	42–62
4.	सुखी जीवन के सिद्धान्त	63–69
5.	गुरु और ब्रह्मज्ञान	70–84

अहम् (EGO)

यह सृष्टि दो भागों में बंटी हुई है; न बदलने वाले क्षेत्र – (Absolute); और बदलने वाले क्षेत्र-(Relative)। इन दोनों क्षेत्रों को अनुभव करने की शक्ति – – इन क्षेत्रों की (Consciouness) होश या जाग कहलाती है।

बाहर का जगत महसूस होता है; बाहर की चेतना (Consciouness) की शक्ति से – जिसके आधार पर जमीन, आसमान, सूरज–चांद, मनुष्य आदि ; सभी कुछ अनुभव होते हैं। बाहर की चेतना (Consciouness) अनन्त चेतनाओं में बंट जाती है – जैसे खेलने की चेतना, पढ़ने की चेतना, व्यापार की चेतना आदि। प्रश्न यह उठता है कि

क्या अन्दर की चेतना भी बहुत सी चेतनाओं में बंट जाती है?

अन्दर की चेतना; या यह कहें कि अन्दर की दुनियां को अनुभव करने की ताकत तो केवल अन्दर की ईश्वरीय शक्ति और अन्दर के संस्कारों को अनुभव करने में मदद करती है। हम अन्दर की ईश्वरीय शक्ति को सत्, चित् और आनन्द के रूप में अनुभव करते हैं। अन्दर के संस्कारों को उन विचारों के रूप में अनुभव करते हैं – जिन पर अपना कोई नियन्त्रण नहीं होता।

अन्दर की दुनियां में केवल ईश्वरीय शक्ति और संस्कार हैं।

मन जब अन्दर के क्षेत्र में विचरण करता है; उस समय अन्दर की शक्ति को लेकर; ठीक वैसे ही बाहर आता है – जैसे रंगीन जल भरी बाल्टी में कपड़ा डुबा कर निकालने पर, कपड़ा बिना कुछ रंग सोखे बाहर नहीं आता। सूखने पर कपड़ा; जितना रंग सोख लेता है – उतना उस पर (उस कपड़े के रंग के रूप में), रह जाता है। बाकी रंग वायुमण्डल में उड़ जाता है।

इसी तरह से ध्यान के समय मन ब्रह्म तत्व के समुद्र में डुबकी लगा कर; जब क्रियाओं के क्षेत्र में वापस आता है – तब थोड़े समय क्रियाओं में रहने के कारण; मन में केवल उतनी ही ब्रह्म की शक्ति रह जाती है – जितना ब्रह्म तत्व मन में पिरो जाता है।

अब हम देखते हैं कि इसकी अनुभूति कैसे होती है?

यदि हम एक बोरा चीनी ले लें, और ऊपर नीचे या बीच में कहीं से भी एक दाना निकाल लें – तो चीनी के हर दाने की मिठास तो बराबर होगी – लेकिन जब चीनी को पानी में घोलेंगे तो, कितने पानी में कितनी चीनी घोली गई – इसके आधार पर ही कम या अधिक मिठास का अनुभव होगा।

इसी तरह हर मनुष्य का मन तो हमेशा एक सा ही है।

कितना ब्रह्म तत्व उसमें पिरो गया; केवल इसी के आधार पर ब्रह्म तत्व की अनुभूति होगी। ब्रह्म तत्व में तीन गुण हैं – सत्, चित् और आनन्द। मन में ये तीनों गुण एक साथ उभरते हैं। इनमें जो आनन्द है – वह मन और ब्रह्म तत्व के सम्पर्क की अनुभूति है। ब्रह्म का जितना तत्व मन में पिरो जायेगा – मन उतना ही आनन्दित रहेगा।

इस तरह से धीरे-धीरे मन में आनन्द की तीव्रता बढ़ती है;

और मन की चेतना की अवस्था बदलती जाती है।

ऊपर हमने अच्छी तरह समझ लिया कि; अन्दर की चेतना और बाहर की चेतना में क्या अन्तर है? कुछ व्यक्तियों का मन बाहर के जगत में विचरण करते समय, बाहर की चेतना की शक्ति के साथ रहता तो है; लेकिन उस समय अन्दर की चेतना की शक्ति नहीं रहती, या यह कहें कि इतनी कम रहती है कि – अनुभव नहीं होती। दूसरे शब्दों में बाहर की चेनता (External Consciouness); अन्दर की चेतना (Internal Consciousness) की कमी में ही अहम् (EGO) है। यही अहम् की परिभाषा होगी। इस अहम् की अवस्था में मनुष्य के अन्दर, जो 'मैं' की अनुभूति होती है; उसी 'मैं' के लिए कहा गया है कि –

''जब 'मैं' था, तब हरि नहीं,

जब हरि है, 'मैं' नाहिं''॥

बहुत से लोग अहम् का अर्थ घमण्ड समझते हैं। समाज में नम्रतापूर्ण व्यवहार में कुशलता हासिल करके, यह कहने लगते हैं कि हमारे अन्दर तो अनहंकारिता है। लेकिन जैसा ऊपर समझाया गया है –

अहंकार का सम्बन्ध तो चेतना की अवस्था से है।

यह भी होता है कि अहंकार की अवस्था में भी व्यवहार नम्रतापूर्वक किया जाय।

इसे हम अहंकार की अवस्था क्यों कहेंगे?

मनुष्य के शरीर में जीवात्मा तो केवल तब तक है, जब तक जीवन है। जीवात्मा के शरीर से निकल जाते ही, जीवन समाप्त हो जाता है। इसका अर्थ यही निकला कि

यह जीवन केवल जीवात्मा का है।

दूसरे शब्दों में यह जीवन तो केवल आत्मिक शक्ति का है।

लेकिन जिनके अन्दर की चेतना जागृत नहीं होती – वे अपने जीवन को बौद्धिक स्तर पर चलाते हैं – जो बाह्य चेतना (External Consciouness) की देन है। यह बाह्य चेतना, धीरे धीरे इस गलतफहमी (Ignorance) से जकड़ने लगती है कि जीवन को संवारने की ताकत तो केवल बुद्धि की शक्ति में है। यही उनका अहं है; और यही उनका घमण्ड है। इस अहं (EGO) की अवस्था में क्रियाओं के क्षेत्र में नम्रतापूर्वक व्यवहार करने में मनुष्य कितना ही कुशल क्यों न हो जाए – वह अहं से हमेशा भरा ही रहेगा।

उसके जीवन में हमेशा ही दोनों तरह के क्षण आयेंगे।

कभी तो वह बहुत ज्यादा नम्र हो जायेगा; और कभी कठोर।

अनहंकारिता बुद्धि के सहारे पैदा ही नहीं की जा सकती।

इसका सम्बन्ध तो सीधे, आंतरिक चेतना के विकास से है।

आंतरिक चेतना के विकास के रास्ते पर, मनुष्य धीरे धीरे उत्तेजना रहित होता रहता है और; बाह्य चेतना के विकास के रास्ते पर उसके अन्दर उत्तेजनाएं बढ़ती ही जाती हैं।

ये बढ़ती हुई उत्तेजनाएं ही अहंकार (EGO) हैं।

ऊपर की बात समझने के बाद हमें इस बात का उत्तर बड़ी आसानी से मिल जाता है कि; बाहर के जगत में मनुष्य चाहे जितना बड़ा डॉक्टर, इन्जीनियर, खिलाड़ी,

व्यापारी या समाज सुधारक क्यों न हो जाय – उसके जीवन से दु:ख नहीं जाता। इसका कारण समझना बहुत आसान है। वह अपने जीवन में केवल बाह्य चेतना का विकास कर रहा है। दूसरे शब्दों में अपने अहं को बढ़ाता ही चला जा रहा है।

अहं ही सारे दु:खों का कारण है।

रामायण भी यही कहती है कि सारे दु:खों का कारण

> **'मैं' और 'मेरा' है। 'मेरा' केवल 'मैं' का होता है। इसलिए 'मैं' मिटने के बाद 'मेरा' स्वत: मिट जाता है। यह निष्कर्ष निकला कि; 'मैं' ही सारे दु:खों का कारण है।**

अन्दर और बाहर के दो क्षेत्र तो जीवन में अवश्य हैं, लेकिन क्रियाएं तो केवल बाहर के क्षेत्र में ही होती हैं।

अन्दर का क्षेत्र तो केवल शक्ति का क्षेत्र है।

मन जितना ही अन्दर के क्षेत्र से शक्ति लेकर बाहर आने योग्य होगा; जीवन उतना ही सुखमय होगा। अन्दर के सुख से मतलब है – आत्म सुख।

बाहर की शक्तियों में सुख देने की शक्ति; है ही नहीं।

बड़े से बड़े डॉक्टर, इंजीनियर या वैज्ञानिक–जो आजकल चांद और अन्य तारों तक जाने लायक हो गये हैं, अथवा बड़े–से–बड़े राजनीतिज्ञ; कोई भी क्यों न हो – यदि वे शक्ति का सम्बन्ध बाह्य चेतना से मानते हैं तो – उनका दु:ख नहीं मिट सकता। अन्दर की चेतना की अनुभूति – जैसा कि ऊपर बताया गया है – ज्ञानेन्द्रियों से परे के (अन्दर की) जगत का 'आनन्द' है। जो मनुष्य बाह्य जगत की चेतना के साथ साथ जितना आनन्द बनाये रखने में सफल हो जाता है, उसी अंश में उसका अहं मिट जाता है और; उसी अंश में वह सुखी हो जाता है। अन्दर और बाहर की चेतनाओं और उनमें अन्तर समझने के बाद हम यह देखेंगे कि;

वास्तव में चेतना है क्या?

यह सृष्टि केवल तरह तरह की शक्तियों का खेल है। दुनियां में सभी लोगों की अपनी अपनी जरूरतें हैं। इन जरूरतों को पूरा करने के लिए ही; उनको जीवन में

तरह तरह की शक्तियों की खोज रहती है। हर मनुष्य बड़ी से बड़ी शक्ति चाहता है; लेकिन चाहने के बावजूद, अक्सर छोटी छोटी शक्तियों से ही काम चलाना पड़ता है।

अब प्रश्न उठता है कि; ऐसा क्यों होता है?

इसका उत्तर यह है कि मनुष्य शक्ति पाने के लिए, प्रयत्न तो शुरू कर देता है– लेकिन इसके पहले यह जानने का प्रयास नहीं करता कि, शक्ति का स्रोत क्या है? जो सही स्रोत का ज्ञान प्राप्त कर लेता है – वह अपने जीवन में साधना करके बड़ी से बड़ी शक्ति पा जाता है। बड़े बड़े महात्माओं का जीवन इसका उदारहण है।

शक्ति का स्रोत चेतना है।

बाहर की चेतना में बाहरी जीवन के पहलुओं को संवारने की सीमित शक्ति है। ये शक्तियां मनुष्य के जीवन में 'करने की शक्ति' के रूप में प्रकट होती हैं। इन शक्तियों को पाने के लिए मनुष्य को अपने शरीर और बुद्धि की शक्ति का इस्तेमाल करना पड़ता है।

> **मनुष्य बुद्धि के सहारे तरह तरह की क्रियाओं का विश्लेषण करता है। उन्हें समझता है; और समझ कर अपनी क्रियाओं को दिशा देता है। ऐसी साधनाओं को ही कर्मकाण्ड की साधना कहते हैं।**

जैसा कि कर्मकाण्ड का सन्धि विच्छेद बताता है –कर्मों का अध्याय। वेदों के कर्मकाण्ड में तरह तरह के कर्मों का ज्ञान है और; उनके सहारे मनुष्य तरह तरह की क्रियाओं द्वारा तरह तरह की साधनाएं करता है।

> **लेकिन आन्तरिक चेतना में तो ब्रह्म के तत्व से निकले हुए 'आनन्द की अनुभूति' है। ब्रह्म की शक्ति तो होने की शक्ति है।**

करने की शक्ति व्यक्तिगत होती है और होने की शक्ति ईश्वरीय शक्ति है। प्रश्न उठता है कि; मनुष्य ईश्वरीय शक्ति को अपने व्यक्तिगत जीवन में इस्तेमाल करना कैसे सीखे? ईश्वरीय शक्ति को अपने जीवन में इस्तेमाल करना सीखने का एक ही रास्ता है और; वह यह है कि – वह ईश्वर से मित्रता करे।

> **ईश्वर से मित्रता करने के लिए; ईश्वर के समीप जाना पड़ेगा।**

ईश्वर इतने सूक्ष्म स्तर की शक्ति है कि, वहां स्थूल शरीर, और स्थूल बुद्धि नहीं पहुंच सकते।

वहां तक पहुंचना, केवल मन के लिए ही सम्भव है। इसलिए ऐसी साधनाओं को ईश्वर की उपासना कहते हैं। उपासना = उप + आसन। उप का अर्थ – समीप है और आसन स्थान को कहते हैं। अत: ईश्वर की उपासना का अर्थ हुआ – ईश्वर के समीप का स्थान। उपासना (ईश्वर के समीप पहुंचने की साधना), में न तो बुद्धि अपना रोल प्ले कर सकती है; और न ही शरीर का उपयोग हो सकता है। इस उपासना की शक्ति के माध्यम से भी तरह तरह की साधनाएं संभव हैं। यही उपासना काण्ड की साधनायें हैं।

सृष्टि में एक बिन्दु भी ऐसा सम्भव नहीं – जिसका अनुभव चेतना की मदद के बिना किया जा सके।

यही इस बात को बताता है कि शक्ति तो कण कण में विद्यमान है। लेकिन हर कण की शक्ति का स्रोत, केवल चेतना (Consciousness) है। आज के समाज के एक साधारण मनुष्य को इस बात का ज्ञान नहीं है और; वह तरह तरह की शक्तियों को पाने के लिए अंधेरे में हाथ पैर चला रहा है। कोई पढ़ाई में शक्ति ढूंढ रहा है, कोई पैसे में, कोई उच्च स्तर की कुर्सी में; और कोई खाने पीने में या कोई उपवास में।

लेकिन जिन्हें यह बात बहुत अच्छी तरह मालूम है कि; शक्ति का स्रोत तो केवल चेतना है और; चेतना के विकास में ही जीवन को सुखी करने की वास्तविक शक्ति है – वे चेतना के विकास को ज्यादा महत्व देते हैं।

यदि चेतना बाह्य जगत की है–तो बाह्य जगत के उच्च स्तर की शक्तियां प्राप्त हो जाती हैं। बड़े बड़े वैज्ञानिक इसके उदाहरण हैं, जो आज के युग में चांद और सितारों तक पहुंच गए हैं। लेकिन जैसा कि पहले भी बताया जा चुका है कि इस (बाह्य चेतना के) स्तर पर अहं (Ego) बढ़ता ही चला जाता है। इसलिए इस चेतना का विकास करने वालों का जीवन बिना आंतरिक चेतना का विकास किये

– सुखी नहीं हो पाता। इसके विपरीत जो उपासना द्वारा आन्तरिक चेतना का विकास करने लग जाते हैं – उनके जीवन में करने के बजाय 'होने की शक्ति' काम करने लगती है और; कालान्तर में वे अधिकाधिक सुखी होते जाते हैं। बड़े बड़े महात्मा इसके उदाहरण हैं।

प्रश्न यह उठता है कि जो आन्तरिक चेतना को जागृत करने के बाद बाह्य चेतना के जगत में कार्यशील होता है; क्या उसके जीवन में 'मैं' नहीं होगा? क्या उसे याद नहीं रहेगा कि; उसका नाम क्या है? और वह क्या काम करता है? इसका उत्तर यह है कि

'मैं' दो तरह के होते हैं-आन्तरिक जगत का 'मैं'; और बाह्य जगत का 'मैं'। दु:ख का कारण तो बाह्य जगत का 'मैं' है। आन्तरिक जगत के 'मैं' का सबसे बड़ा उदाहरण कृष्ण की गीता है; जो कि प्रथम पुरुष में लिखी गई है। लेकिन चूंकि यह 'कृष्ण चेतना' (आन्तरिक चेतना) का 'मैं' है; इसलिए यह सही और गलत से परे का 'मैं' है। दूसरे शब्दों में यहां कुछ भी गलत नहीं है।

राजा दशरथ के सबसे बड़े पुत्र का नाम राम था; और वे आन्तरिक चेतना की शक्ति (आनन्द) से पूर्ण थे। उन्हीं दिनों शायद कोई राक्षस रहा होगा – जिसका नाम रावण था। उससे उस समय सभी भयभीत रहा करते थे। दूसरे शब्दों में रावण सबको रुलाता था। इसीलिए राम शब्द उस बाह्य चेतना का प्रतीक बन गया, जिसके साथ साथ आन्तरिक चेतना भी क्रियाशील रहती; अर्थात् (Co Exhist) करती है। रावण शब्द उस शक्ति का प्रतीक बन गया; जिसका आधार बाह्य जगत की चेतना (बिना आन्तरिक चेतना) के है। इसलिए राम शब्द आन्तरिक चेतना (आनन्द) का; और रावण बाह्य चेतना (रुलाने वाली शक्ति) का प्रतीक बन गया। ये दोनों चेतनाएं किसी न किसी अंश में हर साधारण मनुष्य के अंदर हैं। इन्हीं के कारण हर मनुष्य कभी सुखी और कभी दुखी रहता है। जो व्यक्ति जीवन की उन साधनाओं को पा जाता है, जिन पर चलने से समय बीतने के साथ साथ आन्तरिक चेतना का 'मैं' बढ़ता है; फलस्वरूप बाह्य चेतना में आन्तरिक चेतना भी शामिल हो जाती है। उसका बाह्य जगत का 'मैं' समाप्त होने लगता है और; उसके

जीवन में दु:ख कम होकर सुख बढ़ता जाता है।

जीवन में साधना के रास्ते पर चलने से; ऐसा किस प्रकार होता है?

यह राम, रावण की लड़ाई की कथा के रूप में भी समझा जा सकता है। चाहे राम रावण वास्तव में रहे हों और चाहे गोस्वामी तुलसीदास ने जीवन के सिद्धान्तों को अपने तरीके से रामचरित मानस में अपने शब्दों में रखा हो – जो उस युग के लोगों के लिए अनुकूल और उपयोगी रहा।

तो हमने ऊपर देखा कि; सभी के अन्दर दो तरह की शक्तियां हैं – राम की शक्ति और रावण की शक्ति। लेकिन रामायण यह भी कहती है कि; रावण बहुत बड़ा तपस्वी और विद्वान था। जहां तक लेखक के ज्ञान का प्रश्न है – रावण कर्मकाण्डी ही था।

इस बात को हम आज के युग में कैसे देखेंगे?

ऊपर पहले ही हम देख चुके हैं कि बुद्धि और शरीर की शक्ति के सहारे मनुष्य जीवन के हर पहलू में बाह्य चेतना का विकास करते करते बहुत ऊँचे स्तर तक चला जाता है; लेकिन इससे जीवन के दु:ख भी उसी अनुपात में बढ़ते जाते हैं – कम नहीं होते। लेखक अपने शब्दों में तो यह कहेगा कि; यह साधना रावण (रुलाने वाली शक्ति) कर रहा है और; इससे वह रुलाने वाली शक्ति बढ़ती जाती है – जैसे तपस्या (साधना) करने से रावण की शक्ति बढ़ गयी थी। इस बात को हम और आप कितनी आसानी से देख सकते हैं कि; बाह्य चेतना के द्वारा की गई साधना (तपस्या) रावण रूपी रुलाने वाली शक्ति कर रही है – चाहे इससे रावण जैसे ऐश्वर्य, शक्ति और विद्वता भले ही अर्जित करके प्रकृति की शक्तियों को भी कुछ हद तक अपने वश में क्यों न कर ली जाय।

यह हम आज के समाज में कितनी आसानी से देख सकते हैं कि; अमरीका, इंग्लैंड, रूस, फ्रांस आदि देश – जहां विज्ञान बहुत उन्नत अवस्था में है, वहां दु:ख भी उसी अनुपात में बढ़ा हुआ है।

हम यह अच्छी तरह जानते हैं कि; ब्राउन शुगर (Brown Sugar) जैसी नशीले पदार्थों के सेवन की लत, पश्चिमी देशों के कारण ही यहां भारत में भी फैल रही

है। यदि हम आत्म हत्या करने वाले आंकड़ों और अनिद्रा (insomia) से पीड़ित व्यक्तियों के आंकड़ों को देखें; तो पता चलेगा कि भारत तो उन देशों के मुकाबले में बहुत पीछे है – जहां विज्ञान ने बहुत उन्नति की है। यह इसलिए है; क्योंकि उनके ज्ञान का आधार ही बाह्य जगत की चेतना का विकास है। इस चेतना के विकास के आधार पर; चाहे हम प्राकृतिक चिकित्सा में प्रवीण हो जायं, रेडक्रॉस या WHO (विश्व स्वास्थ्य संगठन) आदि के माध्यम तथा अन्य प्रकार से समाज की सेवा करें; या विज्ञान आदि के विकास जैसे अन्य कार्यों में तपस्या करें; जीवन में दुखों से छुटकारा नहीं मिलेगा।

रावण का नाम दसानन था।

दूसरे शब्दों में रावण दस शीश वाला था। शीश या सिर; हमेशा से बुद्धि का प्रतीक रहा है। इसलिए यह कहावत भी प्रसिद्ध है –

'सिर बड़ा सरदार का पैर बड़ा गंवार का'।

सरदार का अर्थ है –लीडर (Leader); यानी दूसरों को रास्ता दिखाने वाला। मनुष्य को बाहर की दसों इन्द्रियों के जगत के सुख का ज्ञान चाहिए – इसलिए रावण को दस सिर वाला कहा गया है। दूसरे शब्दों में बुद्धि के स्तर पर समस्त इन्द्रियों का ज्ञान, जिसके पास हो – उसकी राजधानी लंका; स्वर्ण की क्यों नहीं होगी? विभिन्न प्रकार के सुख के देवता उसके अधीन क्यों नहीं होंगे? हम इस युग में भी आसानी से देख सकते हैं कि – अमेरिका, ब्रिटेन, रूस इत्यादि के प्रेसीडेण्ट या प्रधानमंत्री के बाहर का जीवन कितना समृद्धशाली है? जबकि इनमें से, एक भी ऐसा नहीं है – जिसके बारे में कहा जा सके कि – उसके पास दसों इन्द्रियों का सारा ज्ञान है।

इनके जीवन में बड़े से बड़े सुख के साथ साथ, तरह तरह के दु:ख भी हैं। इन सभी का जीवन उतार चढ़ाव से भरा हुआ है। इनके अधीन ही वे बड़े बड़े वैज्ञानिक हैं – जो उपग्रह की मदद से दूसरे ग्रहों तक भी पहुंचने लायक हो गये हैं। लेकिन इनके राज्यों में दुखों की कमी नहीं है। रामायण भी यही कहती है तथा हम लोगों के जीवन की अनुभूति भी ऐसी ही है।

अब मन में एक शंका यह उठती है कि; क्या हमें बुद्धि के विकास के लिए समय नहीं देना चाहिए? इसका उत्तर यह है कि; हमें बुद्धि के विकास के लिए समय तो देना चाहिए – लेकिन इसके साथ साथ आन्तरिक चेतना (Internal consciouness) के विकास के लिए भी समय देना है। अर्जुन को कृष्ण, बचपन से ही जानते थे। अर्जुन द्रोणाचार्य के सबसे बड़े शिष्य कहलाते थे। लेकिन महाभारत के महायुद्ध से पहले एक दिन शाम को कृष्ण ने अर्जुन से कहा कि; जो शिक्षा तुमने आचार्य द्रोण से पायी है – वह इस महायुद्ध में विजयी होने के लिए पर्याप्त नहीं है। इसलिए तुम दिव्य शस्त्रों की खोज में चले जाओ। कृष्ण ने अर्जुन को यह भी बताया कि; ये दिव्य शस्त्र इन्द्र के पास हैं। इन बातों का चित्रण हमने महाभारत के सीरियल में भी देखा है। अर्जुन तो केवल, दो हाथ पैर के मनुष्य थे। हम सब भी मनुष्य हैं। यदि हम भी दिव्य शस्त्रों की खोज में इन्द्र पुरी के स्वर्ग में जाना चाहें तो; कैसे जा सकते है? अर्जुन तो गये लेकिन; इसका तात्पर्य क्या है? इसके लिए हमें समझना पड़ेगा कि; इन्द्र क्या है? इनके पास जाने का क्या अर्थ है? दिव्य शस्त्र और शक्तियां क्या हैं? और; इनके प्राप्त करने का अर्थ क्या है?

सीरियल में तो केवल इन्द्र के दरबार का दृश्य दिखाया गया, जहां अपसराएं नृत्य कर रही थीं ओर उसी में वहां अर्जुन को दिखा दिया गया कि – अर्जुन वहां पहुंच गया है।

इन्द्र के दरबार का अर्थ है – ज्ञानेन्द्रियों से परे के जगत का क्षेत्र। इस क्षेत्र तक पहुंचने की क्षमता, केवल मन में है (जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं)। ऊपर हम यह भी देख चुके हैं कि इस क्षेत्र तक हम; कर्मकाण्ड और उपासना काण्ड – दोनों प्रकार की साधनाओं द्वारा जा सकते हैं।

जिस समय कृष्ण ने अर्जुन को दिव्य शस्त्र की खोज में इन्द्र के दरबार में जाने को कहा; उस समय तक अर्जुन-केवल कर्मकाण्ड के क्षेत्र का साधक था।

उपासना काण्ड की साधना तो उसके जीवन में तब शुरू हुई, जब कर्मकाण्ड का अति उच्च साधक होने के बावजूद; उसके जीवन में एक ऐसा समय आया – जब

वह संशय से भरा हुआ था कि;

आखिर जीवन क्या है? और; उसका लक्ष्य क्या है?

क्या सही है और क्या गलत है?

वह अपने कुल पूर्वज और आचार्यों के विरुद्ध शस्त्र का प्रयोग करे या न करे? उसके बाद ही अर्जुन का जीवन उपासना की साधनाओं की ओर बढ़ा। अब हम यह देखेंगे कि; इन दो अलग अलग साधनाओं द्वारा, मन कैसे ज्ञानेन्द्रियों के परे जगत में जाता है? और; उस जगत की शक्ति पाने के बाद – केवल रास्ता अलग होने से, इसमें कुछ अन्तर आता है या नहीं?

प्रत्येक मनुष्य के पास शरीर, बुद्धि और मन हैं। शरीर और बुद्धि; केवल बाहर के जगत में ही काम करते हैं। मन बाहर और भीतर दोनों क्षेत्रों मे विचरण कर सकता है – यह हम पहले भी देख चुके हैं। जब तक जीवन है – मन; बुद्धि और शरीर से जुड़ा हुआ है। इसलिए ज्ञानेन्द्रियों से परे जगत में मन स्वयं; बिना किसी की मदद के जा सकता है और; बुद्धि तथा शरीर की मदद से भी जा सकता है। मन निष्क्रियता द्वारा 'स्वयं' और; ज्ञानेन्द्रियों द्वारा 'कर्म के माध्यम' से ज्ञानेन्द्रियों से परे जगत में चला जाता है।

शरीर में बहुत से चक्र होते हैं।

शरीर के इन चक्रों का ज्ञान तो मुझे भी नहीं है; लेकिन इन चक्रों का ज्ञान, बुद्धि के स्तर पर सम्भव है। इन चक्रों पर मन को एकाग्र करके – जीवन में ईश्वरीय शक्ति जागृत कर सकते हैं। यही कुण्डलिनी जागरण का रास्ता भी कहलाता है।

हममें से ज्यादातर लोग; रामायण और महाभारत सीरियल अवश्य देखते रहे हैं। जिस समय राम, लक्ष्मण, भरत और शत्रुघ्न की शिक्षा का जीवन – वन में दिखाया गया था; उस समय यह चित्रण भी किया गया था कि; कुण्डलिनी जागृत करके जीवन में ईश्वरीय शक्ति कैसे उभारी जा सकती है? इन सभी रास्तों को ठीक से समझने के लिए, हमें बुद्धि का प्रयोग करना पड़ता है और; हम कुछ कर्मों का भी सहारा लेते हैं। इसलिए इसे कर्मकाण्ड का ही रास्ता कहा जाता है। यह समझना कितना आसान है कि; कर्मकाण्ड के रास्ते की शक्तियां उपासना काण्ड

की साधना की शक्तियों से कम नहीं हैं। इसीलिए रावण अपने को, राम से कम नहीं समझता था। सम्पूर्ण कर्मकाण्ड – जो महर्षि व्यास ने लिखा था, उसको अपने जीवन में उतारना कोई खेल नहीं है।

दूसरा रास्ता यह है कि; मन बिना किसी कर्म का सहारा लिए – केवल बन्धन मुक्त हो जाय। कर्म का सहारा नहीं लेना है – इसलिए कर्म को समझने की आवश्यकता भी नहीं रह गई।

इस रास्ते पर किसी प्रकार के कर्म का ज्ञान आवश्यक ही नहीं है। इसीलिए इसे उपासना का रास्ता कहा जाता है। मन के बन्धन मुक्त होते ही; हमारे मन में धीरे धीरे 'आनन्द' उभरने लगता है। ज्यों ज्यों 'आनन्द' उभरता है – मन 'आनन्द' के समीप है – ऐसा कहा जा सकता है। एक बड़ी पुरानी कहावत है :–

'होइहि सोइ जो राम रचि राखा।'

इस पर प्रश्न उठता है कि, फिर मनुष्य क्या करे?

उत्तर यह है कि; वह राम से मित्रता करे। लेकिन आज के समाज की समस्या तो यह है कि; मन में या कान में राम का शब्द आते ही – उसे राजा दशरथ का पुत्र राम याद आ जाता है।

वह राम जो कि मेरे भाग्य को बना सकता है –

वह तो हमारे अन्दर का 'आनन्द' है।

यह वही राम है; जिसके लिए दास मलूका ने कहा है –

'अजगर करे न चाकरी, पंछी करे न काम।

दास मलूका कह गए सबके दाता राम॥'

राम का सही अर्थ न समझने के कारण ही; मनुष्य अंधेरे में हाथ पैर चला रहा है।

यह आनन्द ज्यों ज्यों उभरता है – मन अन्तर्मुखी होने लगता है।

उसके बाद; और अधिक आनन्द उभरने पर, अन्दर के आनन्द और बाहर के सुख में झगड़ा होने लगता है। जब ऐसा होता है – तब इसके पहले बुद्धि ने जो साधना की थी – चाहे बच्चे ने स्कूल में जाकर इन्जीनियरिंग व डॉक्टरी पढ़ा हो और चाहे

अर्जुन ने धनुष की विद्या सीखी हो; बुद्धि के स्तर की सारी साधनाओं की शक्ति, खो थोड़े जाती है। होता तो केवल यह है कि; मनुष्य धीरे धीरे बुद्धि जगत में आन्तरिक चेतना के साथ विचरण करता है और; ज्यों ज्यों ऐसा होता है – समय बीतने के साथ साथ; उसे अन्दर की शक्ति का ज्ञान होने लगता है।

उसे इस सत्य का पता चलने लगता है कि; बाह्य जगत की सारी शक्तियों का स्रोत भी अन्दर ही है।

जिस अनुपात में यह ज्ञान उभर आता है; उस अनुपात में उसका बाहर का अहं मिट जाता है और उसी अनुपात में – उसके जीवन में सुख उभरने लगता है।

अब यह प्रश्न उठता है कि; उपासना की साधना और कर्म काण्ड की साधना से जब हम ईश्वरीय शक्ति पाते हैं – तो दोनों में अन्तर क्या है? उत्तर यह है कि; उपासना की साधना के रास्ते पर 'आनन्द' है। 'आनन्द', वह सुख है–जिसमें मन की सुख की भूख मिटाने की शक्ति है। ज्यों ज्यों यह 'आनन्द' बढ़ता है – मन अपने आप ज्ञानेन्द्रियों (बाहर) के जगत के सुख को नहीं ढूंढ़ता। कारण यह है कि; यह इतना बड़ा सुख है कि ज्ञानेन्द्रियों के जगत का सुख, उसके आगे बहुत फीका पड़ जाता है। जिस प्रकार से हम मनुष्यों में भी; जो बहुत उच्च स्तर का भोजन करने की क्षमता रखता है; वह साधारण स्तर के भोजन के बारे में सोचता ही नहीं। ऐसा उसका स्वभाव हो जाता है। इसी तरह

आनन्द उभरने के साथ; ज्ञानेन्द्रियों के सुख की ओर से विमुखता, हमारा स्वभाव बनने लगता है। हम अन्दर से बदल जाते हैं।

लेकिन कर्मकाण्ड के रास्ते पर हम कर्म के ज्ञान के सहारे सुख प्राप्त करने की कोशिश करते हैं और; गलत दिशा की ओर जाने से मन को रोकने की कोशिश करते हैं। साधकों से लेखक का निवेदन है कि; साधक जो कुछ भी करें – उपर्युक्त बात की सत्यता को महसूस करें। ऐसा करने से वे देखेंगे कि;

बुद्धि के रास्ते पर चलने से मन नहीं बदलता और; जब तक मन नहीं बदलता, तब तक आप अन्दर से नहीं बदलते – केवल बाहर से बदलते हैं।

प्रश्न उठता है कि; बुद्धि के सहारे हम अन्दर से क्यों नहीं बदलते?

क्या हम बातचीत करके और समझकर, अन्दर से नहीं बदल सकते? इसका उत्तर यह है कि; अन्दर से बदलने का अर्थ तो केवल यही है कि – हमारा स्वभाव बदल गया। इसलिए हमें समझना यह चाहिए कि; स्वभाव बदलने का अर्थ क्या है? हर मनुष्य का स्वभाव अलग अलग क्यों है? लेखक की पुस्तिका 'ध्यान द्वारा जीवन की मौलिक शक्तियां' के पृष्ठ 26 पर Map of the mind में यह दिखाया गया है। कि;

मन में दो तरह की शक्तियां हैं –

ईश्वरीय शक्ति और संस्कारों की शक्ति।

हर मनुष्य के स्वभाव का कारण है – अन्दर की इन शक्तियों की स्थिति अर्थात् – जिसके अन्दर जैसे संस्कार हैं; वैसा ही उसका स्वभाव है। इसलिए स्वभाव के बदलने की संभावना तो; केवल तब होगी, जब हम उन संस्कारों से मुक्त होने की ओर बढ़ेंगे। बुद्धि के सहारे चलने वाले तो हमेशा यह कहते हैं कि; हमें स्वभाव को बदल करके ऐसा करना है। लेकिन यह नहीं बताते कि;

स्वभाव कैसे बदले?

प्रश्न उठता है कि तब ध्यान से स्वभाव कैसे बदलेगा?

इसका उत्तर यह है कि ध्यान (उपासना) के रास्ते पर चलने से ब्रह्म (ईश्वर) की शक्ति उभरती है; जो कि अपने आप में सर्वशक्तिमान है। वह बुद्धि के अधीन नहीं है।

बुद्धि द्वारा; न स्वभाव बदला जा सकता है और; न ही स्वभाव को ठीक किए बिना जीवन में सुख (आनन्द) मिल सकता है।

ध्यान के रास्ते पर धीरे धीरे संस्कार क्षीण (नष्ट) होने लगते हैं। एक मात्र संस्कारों के क्षीण होने पर ही; जीवन के विभिन्न पहलुओं में दु:ख, धीरे धीरे कम होने लगते हैं। दूसरे शब्दों में 'आनन्द' बढ़ने लगता है। इस बात को उदाहरण देकर 'ध्यान द्वारा जीवन की मौलिक शक्तियां' नामक पुस्तिका में समझाया गया है। बाहर के

अनन्त पहलुओं के क्षेत्र में इसे; तर्क देकर समझाना असम्भव होगा। ऊपर हम लोगों ने देखा कि

उपासना (ध्यान) के रास्ते पर चलने से 'आनन्द' उभरता है –

जो सुख की भूख मिटाता है।

अगर हम अपने जीवन को देखें, अपने समाज को देखें और; अकेले में बैठकर सोचें कि;

क्या समाज के सारे दु:खों का कारण यह नहीं है कि; हम सब एक दूसरे का सुख छीनकर अपने जीवन को सुखी बनाने में लगे हैं?

हम ऐसा केवल इसलिए करते हैं; क्योंकि ज्ञानेन्द्रियों के जगत का सुख तो खारा सुख है – दूसरे शब्दों में वह सुख की तड़पन बढ़ाने वाला है। एक पुरानी कहावत है –

'गोधन गजधन बाजिधन और रतन धन खानि।

जब आवत सन्तोष धन, सब धन धूरि समानि॥'

इस युग के महात्मा हमें संतुष्ट रहने की शिक्षा देते हैं। लेकिन; कुछ लोग सन्तुष्ट क्यों हैं? और कुछ लोग क्यों नहीं हैं? इस Topic पर कभी बात नहीं की जाती। जब तक इसका उत्तर सैद्धान्तिक स्तर पर प्राप्त नहीं होगा और; उसके आधार पर हम प्रयोगात्मक स्तर पर कोई रास्ता न ढूंढ़ लें – तब तक जीवन में सन्तोष आना सम्भव नहीं होगा। जैसा लेखक ने ऊपर बताया है कि

जिसके जीवन में 'आनन्द' उभर आयेगा;

उसके जीवन में असन्तोष हो ही नहीं सकता।

जिस मात्रा में 'आनन्द' उभरेगा, उसी मात्रा में 'सन्तोष' आएगा; और उसी मात्रा में 'अहं' (Ego) मिटेगा। दूसरे शब्दों में सन्तोष और अहं का गहरा सम्बन्ध है। जिस मात्रा में अहं है – उतनी ही मात्रा में असन्तोष है।

यह आनन्द ज्यों ज्यों; अहं को मिटाकर गहरा सन्तोष देता है – त्यों त्यों मन में; बाह्य जगत का सुख ढूंढ़ने का प्रयास अपने आप कम

होता जाता है और; इसी अवस्था को हमन मन को जीतने की अवस्था कहते हैं और; इसी आधार पर कहा गया है कि –

'मन के जीते जीत है, मन के हारे हार।'

इसका अर्थ है कि; ज्यों ज्यों 'आनन्द' उभरता है – बाह्य सुखों की कमी हमारे जीवन में विलुप्त होने लगती है। क्योंकि यह 'आनन्द', इच्छा शक्ति (इच्छा-पूर्ति) के रूप में जागृत हो जाता है। इसीलिए

शंकराचार्य के जीवन में हम देखते हैं कि; भले ही उन्हें स्वयं के लिए – ज्ञानेन्द्रियों के (बाह्य) जगत के सुख की जरूरत न रही हो; लेकिन दूसरों के घर में सोने के आंवले बरसाने की क्षमता तो उनमें थी ही।

यह जो सन्तोष है – ईश्वरीय शक्ति को गलत रास्ते पर प्रयुक्त नहीं होने देता। लेकिन आनन्द को उभारे बिना; कर्म काण्ड के माध्यम से जो शक्ति अर्जित की जाती है – वह भी ईश्वरीय शक्ति ही होती है। लेकिन इस रास्ते में मन में सन्तोष नहीं उपलब्ध होता। इसके प्रमाण हमारे आध्यात्मिक इतिहास में मिलते हैं। एक से बढ़कर एक ऋषि महर्षि हुए हैं; जिनमें आशीर्वाद और श्राप – दोनों देने की शक्ति थी, और वे इनका प्रयोग भी करते थे।

वे श्राप देने की शक्ति का प्रयोग केवल; 'आनन्द' की कमी के कारण ही करते थे और; श्राप के माध्यम से वे-जो दुःख दूसरों को देते थे – भविष्य में वे दुःख उलट कर, उन्हीं पर आ जाते थे।

कर्मकाण्ड द्वारा प्राप्त शक्ति और; उपासना काण्ड द्वारा प्राप्त शक्ति में – यही अन्तर है। जो जीवन दर्शन; उपासना के माध्यम से होता है – वह कर्मकाण्ड के माध्यम से नहीं होता। इसका प्रमाण उस समय मिलता है; जब हम देखते हैं कि – यद्यपि अर्जुन को इन्द्र दरबार में पहुंचने की और; दिव्यास्त्रों को पाने की शक्ति तो थी, लेकिन उनके जीवन में वे क्षण भी आये – जब जीवन को सही रूप में समझने की शक्ति नहीं दिखायी दी। इसी कारण कृष्ण को उन्हें गीता के उपदेश द्वारा उपासना का मार्ग बताना पड़ा।

ऊपर हम लोगों ने विस्तार से देखा कि; उपासना के रास्ते पर 'आनन्द' है। 'आनन्द' के साथ ही आन्तरिक चेतना भी उभरती है। दूसरे शब्दों में आन्तरिक चेतना की कमी में; कर्मकाण्ड के माध्यम से – ईश्वरीय शक्ति तो मिलती है लेकिन; आन्तरिक चेतना की कमी की वजह से, यह हमें सुख के बजाय दुःख देने लगती है; या यह कहें कि यह शक्ति रावण की शक्ति का रूप ले लेती है। यदि किसी का स्वास्थ्य अच्छा है – तो उसे जीवन का सुख नहीं समझा जा सकता। क्योंकि बीमार तो रावण भी नहीं रहता था। इसी तरह से जीवन के किसी एक पहलू का सुख आ जाना; इस बात का कभी प्रमाण नहीं हो सकता कि – उसके जीवन में दुःख नहीं आयेंगे।

जीवन में दुःख तो तब नहीं आवेगा – जब आन्तरिक चेतना उभर आये। दूसरे शब्दों में आन्तरिक चेतना सम्बन्धी 'मैं'; बाह्य चेतना के साथ साथ रहने लगे और; इसी अवस्था को हम कहते हैं कि – हमारा 'मैं' मिट गया।

स्पष्ट है कि वह 'मैं'; जो आन्तरिक चेतना के बिना, बाह्य चेतना में है; उसका मिट जाना ही – उस 'मैं' का मिट जाना है – जो दुख का कारण है। इसी 'मैं' (अहं) के मिटने के रास्ते को श्री गोस्वामी तुलसीदास ने रामायण में राम और रावण की लड़ाई के रूप में दिखाया है; जिसे हम, और समझेंगे।

राम, लक्ष्मण, भरत और शत्रुघ्न; राजा दशरथ के पुत्र थे तथा; जन्म और कर्म दोनों से ही क्षत्रिय थे; अर्थात् इनके धर्म पालन का आधार – इनकी शक्ति होती थी। इसीलिए ये नाम, प्रकृति की मूल शक्तियों के प्रतीक बन गये।

अन्दर का आनन्द ही राम है।

हर मनुष्य इस आनन्द को महसूस क्यों नहीं करता?

उत्तर यह है कि 'आनन्द' हमारे जन्म जन्मांतर के संस्कारों से ढका रहता है। अन्दर की दुनियां की बनावट और बाह्य जगत की बनावट के उदाहरण से यह बात बहुत अच्छी तरह समझी जा सकती है। बाहर की दुनिया में विश्व को प्रकाश देने वाला सूर्य, हमेशा ही बादलों से ढका रहता है। जब बादल बहुत घने रहते हैं;

तब 12 बजे दिन में भी, जमीन पर अंधकार छा जाता है; क्योंकि जमीन को सूर्य की रोशनी बादलों से छनकर ही मिलती है।

हम अपने अन्दर के जीवात्मा की तुलना, सूर्य से कर सकते हैं और; उसकी शक्ति की तुलना, सूर्य के प्रकाश से। जो प्रकट होने पर 'आनन्द' का रूप धारण कर लेती है।

यह जीवात्मा की शक्ति जन्म जन्मांतर के संस्कारों से ढकी रहती है। संस्कारों की तुलना हम; बादलों से कर सकते हैं। मन की तुलना; जमीन से कर सकते हैं। मन को 'आनन्द' संस्कारों से छनकर; कुछ-न-कुछ मात्रा में हर क्षण मिलता ही रहता है।

जिस समय यह मात्रा शून्य हो जाती है; उस क्षण मृत्यु हो जाती है।

इन संस्कारों को हम लोगों ने उत्तेजना के नाम से भी जाना है। इन्हें हम अन्दर के विकार भी कह सकते हैं। ध्यान की विधि सीखते समय हमने देखा कि; जिन क्षणों में मन बन्धन मुक्त रहता है; उन्हीं क्षणों में संस्कार भावों के क्षेत्र में आकर निकलते हैं और; ईश्वरीय शक्ति उभरती (प्रकट होती) है।

इन संस्कारों को हम तरह-तरह की उत्तेजनाओं के रूप में महसूस करते हैं।

इन संस्कारों के निकलते ही; मन में 'आनन्द' उभर आता है।

इस तरह निकलती हुई उत्तेजना की शक्ति, दुखदायी कैसे हो सकती है?

यही शक्ति तो आनन्द को उभारने में सहायक है। यही अहम् को मिटाने की प्रक्रिया है। प्रकृति की यही शक्ति, लक्ष्मण रूपी शक्ति है। अब कितना आसान है यह समझना कि; क्यों राम और लक्ष्मण को हमेशा साथ साथ रहते दिखाया गया है?

राम, मन में 'आनन्द' के रूप में प्रकट होता है और; यह ज्ञान हमें पहले से है कि; आनन्द वह सुख है-जो मन के सुख की भूख मिटा सकता है। जिसके मन में सुख की भूख मिट गई है; वह किसी दूसरे के सुख को छीनने के विषय में सोच भी कैसे सकता है?

मन की यह प्रवृत्ति एक बहुत बड़ी शक्ति है तथा - इसी का नाम प्रेम है।

भरत को हमारे शास्त्रों में प्रेम की साक्षात् मूर्ति बताया है। हम यह भी कह सकते हैं कि; प्रकृति की यह शक्ति ही भरत रूपी शक्ति है - तो गलत न होगा।

प्रेम तो शत्रुओं को भी मित्र बनाने की शक्ति रखता है।

इसलिए प्रेम की शक्ति को शत्रुघ्न कहते हैं। प्रेम को प्रेम की शक्ति से अलग कैसे किया जा सकता है? इसलिए रामायण में; भरत और शत्रुघ्न को साथ साथ रहना दिखाया गया है।

इस तरह हम देखते हैं कि; प्रकृति में राम, लक्ष्मण, भरत और शत्रुघ्न तो - शक्तियों के रूप में तीनों कालों में व्यापत हैं। रावण की शक्ति की व्याख्या पहले ही ऊपर की जा चुकी है। फिर भी हम याद दिला दें कि; आन्तरिक चेतना की कमी में दसों ज्ञानेन्द्रियों के क्षेत्र के ज्ञान की शक्ति-रावण की शक्ति है। आन्तरिक चेतना की कमी में बाह्य जगत की शक्तियां-ज्यों ज्यों बढ़ती हैं; त्यों त्यों मनुष्य इस गलतफहमी का शिकार होता जाता है कि, शायद मनुष्य का जीवन ज्ञानेन्द्रियों के जगत की शक्ति द्वारा भी संवारा जा सकता है? यह गलतफहमी जितनी बड़ी होती है; अहं भी उतना ही बड़ा होता है।

अहं की सबसे ऊंची अवस्था को हम; रावण कह सकते हैं।

अपने जीवन में हम यह देखते हैं कि; ऐसा तो कोई नहीं मिलता-जिसके अन्दर दसों इन्द्रियों के जगत का ज्ञान; एक साथ हो और; ऐसा भी कोई नहीं मिलता-जो आत्मिक शक्ति से परिपूर्ण हो।

कहने का अर्थ यह है कि; रावण और राम का मिलना बहुत कठिन है। तो हम लोग अपनी बात केवल उस अहं तक ही सीमित रखेंगे, जिसमें कि यह गलतफहमी धीरे धीरे बढ़ती जाती है कि; बाहर के ज्ञान के सहारे जीवन को संवारा भी जा सकता है। मन की इस अवस्था को ही; रामायण में बालि कहा गया है। कहते हैं कि; बालि ने सुग्रीव की पत्नी का हरण कर लिया था। इसका अर्थ क्या है? ऊपर हम देख चुके हैं कि; जीवन केवल आत्मिक शक्ति का है। यह भी कह सकते हैं कि; जीवन केवल आत्मिक शक्ति द्वारा ही संवारा जा सकता है। आत्मिक शक्ति

के क्षेत्र के राजा को ही, सुग्रीव कहते हैं और; यह जीवन सुग्रीव की पत्नी कही जा सकती है। बालि, सुग्रीव की पत्नी को हर ले गया – इसका यह अर्थ है कि;

बुद्धि की शक्ति ने जीवन को हर लिया, जो अपने आपको जीवन संवारने में समर्थ समझती है।

कहते हैं बालि के डर से सुग्रीव पहाड़ों में जाकर छिप गया था; और वहां से निकलता नहीं था। जब मन की अवस्था ऐसी होती है कि; उसे पूर्ण विश्वास रहता है कि; जीवन को बुद्धि की शक्ति के सहारे संवारा जा सकता है – उस समय आत्मिक शक्ति घने संस्कारों से दबी रहती है। तो ये घने संस्कार ही वे पहाड़ हैं; जिनमें सुग्रीव छिपा रहता है। जब जीवन में ध्यान का अभ्यास शुरू किया जाता है; तब कुछ समय बीतने पर, 'आनन्द' उभरने लगता है और; बुद्धि को यह महसूस होने लगता है कि – हमसे बड़ी शक्ति (आनन्द) भी कहीं पर है। ज्यों ज्यों बुद्धि को इस अन्दर की शक्ति का एहसास होता जाता है; वह धीरे धीरे अन्दर की शक्ति पर समर्पित होने लगती है।

'आनन्द' पर बुद्धि के पूर्ण समर्पण के बाद मन की जो अवस्था होती है-वह की अंहहीन (आनन्द हीन) अवस्था है और; उसी को कहा जाता है कि- राम ने बालि को मार दिया। हम पहले ही देख चुके हैं कि; 'आनन्द' ही राम है।

रामायण यह भी कहती है कि; राम ने बालि को छिपकर – अर्थात् पीछे से मारा। इस सत्यता को कम-से-कम वे साधक समझ जाते हैं; जो कुछ दिनों के ध्यान के अभ्यास के बाद 'आनन्द' उभारने में सफल हो गए हैं। जो नहीं सफल हुए हैं; वे भी इतना तो समझ ही सकते हैं कि; मन सदा ही सुख और आनन्द के बीच में रहता है। इसलिए जिन क्षणों में मन किसी सुख में लिप्त है (यदि आनन्द उभरा और; मन को अन्दर की ओर खींच ले गया)-तो जिस दिशा में मन सुख ले रहा था- उसकी विपरीत दिशा से ही 'आनन्द' उभरेगा। इसीलिए यह कहा गया है कि; राम ने बालि को सामने आकर नहीं मारा।

जिस समय बालि मरता है; उसके पहले केवल छिछले स्तर के विकार निकलते हैं। दूसरे शब्दों में मनुष्य के गहरे विकार निकलने में तो हमेशा ही समय

लगता है और; गहरे विकार निकलने के पहले ही, मन ध्यान की शक्ति पर समर्पित हो चुका होता है। इसीलिए रामायण में यह लिखा है कि; रावण का वध करने में राम की मदद, सुग्रीव ने बालि के मरने के बाद ही की और; अपनी जीत वानर सेना की मदद से की।

यह बानर सेना क्या है?

वे राक्षस कौन हैं जिनका वध सुग्रीव के बानरों ने किया?

अब इसे अच्छी तरह समझना है। कहते हैं; राम की सेना में एक से बढ़कर एक योद्धा थे। इतना तो हम जानते ही हैं कि; जीवन के दु:खों का कारण केवल संस्कार हैं और; रामायण कहती है कि -दु:ख देने वाले राक्षस है। तो संस्कारों की शक्ति ही तो -राक्षस हुए।

लेकिन संस्कारों की शक्ति दो रूपों में है – समाते हुए संस्कारों की शक्ति और; निकलते हुए संस्कारों की शक्ति।

जिस समय संस्कार समाते हैं, उस समय राक्षसों की (दु:ख देने वाली) शक्ति बढ़ती है और; जिस समय राक्षस मरते हैं – उस समय निकलते हुए संस्कारों की शक्ति काम करती है। सुग्रीव की सेना ने तो; केवल निकलते हुए संस्कारों की मदद की। ध्यान करने से तरह तरह के विकार निकलते हैं।

विकार भी दो रूपों में हैं – रज और तम।

तम शब्द का शाब्दिक अर्थ है – अंधेरा। वे संस्कार जो अंधेरे में हैं; दूसरे शब्दों में- जो सो रहे हैं वे; तम हैं और; रज रूपी संस्कार वे हैं – जो उभरे हुए हैं। इसलिए तम रूपी संस्कारों की शक्ति; रज रूपी संस्कारों से ज्यादा होती है। क्योंकि तम रूपी संस्कार; रज रूपी संस्कारों की तुलना में ज्यादा सूक्ष्म स्तर के होते हैं – इसीलिए रामायण में कुम्भकर्ण के लिए कहा गया है कि; वह 6 महीने सोता था और, एक दिन जागता था। रामायण में कुम्भकर्ण को, उस समय जगाया गया था- जब रावण के बड़े बड़े योद्धा मारे जा चुके थे। हम यह भी जानते हैं कि; विकास हर स्तर पर हैं – जैसे शारीरिक, मानसिक और वातावरण के विकार।

यदि हम महात्माओं के जीवन की ओर ध्यान दें-तो देखेंगे कि; काफी उच्च स्तर के महात्माओं में भी साधना के दौरान, कुछ भयंकर बीमारियां उभरीं - जैसे डायबिटीज, कैंसर और दमा आदि। ये शारीरिक स्तर के विकार हुए। ऐसे ही बौद्धिक और मानसिक स्तर के विकारों की भी बात है। वातावरण के स्तर पर भयंकर घटनाओं की सम्भावनाएं हैं तो साधक में इन निकलते हुए विकारों की तकलीफों या भयंकर घटनाओं की तकलीफों को उलट देने की शक्ति चाहिए। एक जगह तो रामायण यह कहती है कि; जीवन के सारे पाप काटे जा सकते हैं, लेकिन दूसरी तरफ यह भी कहा जाता है कि

'प्रारब्ध काटे नहीं कटे।'

ऐसा लगता है कि पाप और प्रारब्ध; एक नहीं है।

हमें पाप और प्रारब्ध का अन्तर अवश्य समझ लेना चाहिए। हमने ऊपर देखा कि; समाये हुए संस्कार ही पाप हैं। इन संस्कारों के पास दो तरह की शक्तियां हैं -

एक जो हमारे अन्दर समा जाते हैं। यही पाप की शक्ति है।

और दूसरी निकलते हुए संस्कारों की शक्ति-इसी को प्रारब्ध कहते हैं।

कमरे में समाती हुए गन्दगी की शक्ति का फल तो यह है कि; कमरे में बैठने में खराब लगता है। लेकिन कमरे की सफाई के समय जो गर्द (गन्दगी) उड़ती है; वह भी उस समय किसी को अच्छी नहीं लगती।

कमरे की सफाई हो; या शरीर, मन, बुद्धि के निकलते हुए विकार- ये कुछ कष्ट तो देंगे ही - और यही प्रारब्ध हैं।

साधना के रास्ते पर यदि साधक को ऐसी समस्याओं का हल न मिला; तो वह हताश होकर बीच में ही साधना छोड़ देगा। या यों कहें कि; हमारे बाहर की रावणरूपी शक्ति, हमारे अन्दर की राम रूपी शक्ति पर विजय पा जायेगी। इसीलिए बानर की सेना की शक्ति की जरूरत पड़ती है।

लेखक की पुस्तिका 'साधना' में सुमिरन के अध्याय में बहुत विस्तारपूर्वक मन्त्रों के जाप का सिद्धान्त समझाया गया है और हमारे वेदों में तो न मालूम

कितने मन्त्र हैं, जिनको जीवन में सिद्ध कर लेने के बाद -मनुष्य जीवन के अलग अलग पहलुओं की बड़ी-से-बड़ी समस्या का सामना करने की क्षमता प्राप्त कर लेता है। उदाहरण के लिए हनुमान चालीसा या गायत्री मन्त्र। सुमिरन के अध्याय में यह समझाया गया है कि; एकमात्र तरह तरह के मन्त्रों के स्मरण द्वारा संकल्प के सिद्धान्त के आधार पर ईश्वरीय शक्ति को समय समय पर उतार कर, तरह तरह के प्रारब्ध काटे जा सकते हैं। ये मन्त्र ही; बानर सेना है और इनकी मदद से ही ये प्रारब्ध कटते हैं।

ज्यों ज्यों प्रारब्ध कटते हैं - अहं मिटता जाता है; और आन्तरिक चेतना उभरती जाती है तथा धीरे धीरे सबसे उच्च स्तर का अहं भी मिट जाता है।

प्रश्न यह भी उठता है कि इस राम रावण की कहानी में सीता की तो कहीं बात नहीं की गई; और न ही सीता हरण की। आरम्भ में ही यह बताया गया है कि, समाज में आसानी से न रावण मिलते हैं और; न ही राम। साधना यही होगी। जब मनुष्य की अवस्था साधारण है, उस समय के उसके जीवन को सुग्रीव की पत्नी कहा गया। लेकिन मनुष्य ज्यों ज्यों इस साधना में प्रगति करता है, धीरे धीरे आन्तरिक चेतना के चारों स्तर जागेंगे।

मनुष्य जागृत अवस्था से भावातीत चेतना की ओर मुड़ेगा। और फिर कुछ बड़ी बड़ी समस्याएं जीवन में आयेंगी और ऊपर बतायी गई साधना के सिद्धान्तों पर ही; और बड़े बड़े राक्षस भी जागृत होंगे। तब मनुष्या भावातीत (Transcendental) से ब्राह्मी चेतना (Cosmic) की ओर बढ़ेगा फिर ईश्वरीय (God) चेतना की ओर। अन्त में अद्वैत (union) चेतना की ओर। अद्वैत चेतना तक पहुंचने के पहले, न मालूम कितनी बड़ी बड़ी समस्याओं का सामना करना पड़ सकता है। तम के गहरे से गहरे संस्कार उभरेंगे; और जब ये सब निकल जायेंगे - तभी मनुष्य राम स्वरूप होगा। उस समय मनुष्य का जो जीवन होगा - वही तो सीता होगी। जब तक राम ही नहीं है - तब तक सीता कहां से आयेगी?

राम स्वरूप होने के लिए एक से ज्यादा जन्म भी लेने पड़ सकते हैं; और यह सब, एक जन्म में भी हो सकता है। लेकिन वह जीवन - जो मनुष्य को राम

स्वरूप होने पर मिलेगा; वह इसके पूर्व कहां था? इसका उत्तर यही है कि; सीता तो रावण के मरने के बाद (अर्थात् सबसे सूक्ष्म स्तर के तम के संस्कारों से निकल जाने के बाद), ही राम स्वरूप मनुष्य को मिल पायेगी। संक्षेप में श्रीगोस्वामी तुलसीदास द्वारा बताई गई राम और रावण की लड़ाई-जो कि केवल अहंकार को पूर्ण रूप से मिटाने का रास्ता है, यही है।

आध्यात्मिक शिक्षा

'अध्यात्म' का अर्थ है - आत्मा या निज स्वरूप की स्थिति।

पूरी सृष्टि में केवल मन ही; जीवात्मा और ज्ञानेन्द्रियों, दोनों क्षेत्रों में विचरण करने में सक्षम है। आत्मा ब्रह्म के तत्व का भण्डार है। ज्यों ज्यों मन; आत्मा की शक्ति लेकर बाहर के जगत् में विचरण करने योग्य होता जाता है - त्यों त्यों वह बाहर के जगत में शक्तिशाली होता जाता है। जब वह आत्मा की अधिक से अधिक शक्ति लेकर, बाहर विचरण करने में समर्थ हो जाता है - तब हम कहते हैं कि वह अपने में स्थित रहते हुए बाह्य जगत में आने योग्य हो गया है।

यह मन की सबसे उच्च अवस्था कहलाती है।

जो शिक्षा; मन को धीरे धीरे इस अवस्था की ओर ले जाए - वही सबसे बड़ी शिक्षा है। आत्मा का ज्ञान अनुभव करने वाला; हमेशा मन ही होता है - बुद्धि नहीं।

ज्ञान का क्षेत्र विवेक है।

प्रश्न उठता है कि; यह विवेक कैसे जागता है? विषयों के ज्ञान का क्षेत्र हमेशा बुद्धि ही है। अपने नित्य के जीवन के अनुभव के आधार पर हम बहुत आसानी से देख सकते हैं कि; किसी भी विषय के क्षेत्र में बुद्धि के विकास का आधार, उस विषय के क्षेत्र में मन का विचरण ही होता है। अपने इस अनुभव के आधार पर यह समझना बहुत आसान हो जाता है कि

आत्मा के क्षेत्र में मन का विचरण ही; विवेक जागृत करने का आधार होगा। आत्मा; ब्रह्म के तत्व का भण्डार है।

जब मन; आत्मा के क्षेत्र में विचरण करके बाहर के जगत में बापस आता है - तो ब्रह्म के कुछ तत्व को इस प्रकार बाहर लाता है - जैसे यदि कपड़ा रंगने के लिए उसे रंग की बाल्टी में डालें और फिर बाहर निकालें, तो कपड़ा हमेशा ही कुछ रंग सोखकर बाहर आयेगा। ध्यान के उपरान्त मनुष्य किसी-न-किसी काम में अवश्य ही व्यस्त होगा। कार्य की व्यस्तता के समय ब्रह्म के कुछ तत्व वायुमण्डल में चले जाते हैं और, कुछ मन में पिरो जाते हैं। जैसे कि जब कपड़ा सुखाने के लिए

फैलाया जाता है तो कुछ रंग तो वायुमण्डल में उड़ जाता है और, कुछ कपड़ा स्वयं सोख लेता है। जितना ब्रह्म का तत्व मन स्वयं सोख लेता है; उसी मात्रा में मन में ब्रह्म के तत्व के गुण उभरने लगते हैं।

ब्रह्म के तीन गुण हैं - सत्, चित्त और आनन्द।

आनन्द आन्तरिक सुख है। यह वह सुख है - जिसे अनुभव करने क लिए मन को किसी ज्ञानेन्द्रिय की मदद नहीं लेनी पड़ती। प्रयोगात्मक स्तर (Practical Status) पर आप इसे महसूस कर सकें; इसके लिए पाठकगण अपना ध्यान घोर निद्रा के बाद की अवस्था की ओर ले जाएं। हर मनुष्य को उस समय अन्दर से बहुत अच्छा प्रतीत होता है। उसके इस अनुभव में कोई ज्ञानेन्द्रिय अपना योगदान नहीं देती।

यही आनन्द है।

चित्त, संस्कृत का एक शब्द है जिसका अर्थ है-होश, जाग या Consciousness। आनन्द और चित्त दोनों - एक ही तत्व के गुण हैं। इसलिए जब भी ये उभरते हैं - साथ साथ उभरते हैं; और जब भी दबते हैं - साथ साथ दबते हैं। इसकी अनुभूति भी हम अपने नित्य के जीवन में कर सकते हैं। जिस समय ब्रह्म के तत्व मन में उभरते हैं, उस समय हम देखते हैं कि; मनुष्य निद्रा से जागृत अवस्था की ओर बढ़ता है।

दूसरे शब्दों में आनन्द और होश, साथ साथ ही उभरते हैं।

जब मनुष्य के अन्दर थकावट का अनुभव होता है; तो उभरती हुई थकावट के साथ साथ मन की अवस्था भी निद्रा की ओर अग्रसर होती है। दूसरे शब्दों में आनन्द का दबना और होश का दबना; दोनों साथ साथ ही होता है। इससे यह बात भी अच्छी तरह समझ में आ जाती है। कि

आनन्द का दबना ही थकावट है।

प्रकाश का दबना (अभाव) ही अंधेरा है।

प्रकाश की उपस्थिति ही अंधकार के अभाव का कारण है।

जैसे प्रकाश के जाते ही अंधेरा आ जाता है; और प्रकाश के आते ही अंधेरा गायब हो जाता है - बिल्कुल इसी तरह आनन्द के उभरते ही, थकावट गायब हो जाती है और आनन्द के दबते ही, थकावट महसूस होने लगती है। ब्रह्म के तत्व के तो तीन गुण हैं; जिनमें से दो की व्याख्या ऊपर की गई है। ये दोनों गुण अन्दर के जगत में ही उभरते और दबते हैं। लेकिन इन गुणों के उभरने या दबने का प्रभाव, बाहर के जगत् पर भी पड़ेगा।

चित्त् और आनन्द के उभरने का प्रभाव,
बाहर के जगत में सत् का उभरना कहलायेगा।

चित्त् और आनन्द के दबने का प्रभाव; सत् का दबना कहलायेगा। हम अपने नित्य के जीवन में यह अनुभव करते हैं कि; जब हम बहुत थके होते हैं; तब अपने कुटुम्ब के सदस्य या प्यारी-से-प्यारी चीजें भी अच्छी नहीं लगतीं। लेकिन जब हम अच्छी नींद के बाद उठते हैं (दूसरे शब्दों में चित्त् और आनन्द उभरी अवस्था में होते हैं), वही चीजें अच्छी लगने लगती हैं - जो कि उस समय अच्छी नहीं लगती थीं - जबकि चित्त् और आनन्द दबे हुए थे। इस तरह हमारे जीवन के अनुभव ही - हमें यह बताते हैं कि; बाहर का जगत हमें कैसा प्रतीत होगा? यह केवल इस पर निर्भर करेगा कि हमारी नित्य की क्रियाएं; किस अवस्था तक; हमारे चित्त और आनन्द को दबा पाती हैं और; हमारे आराम करने की अवस्था किस हद तक हमारे अन्दर के आनन्द और चित को उभार पाती हैं? यदि हमें कोई ऐसा रास्ता मिले, जिस पर चलकर हमारी अवस्था धीरे धीरे इस तरह बदले कि; हमारे मन में समय बीतने के साथ साथ चित और आनन्द की उच्चतम और न्यूनतम स्थितियां नित्य बढ़ती जाएं तो; निश्चय ही हमारा जीवन समय के साथ साथ उच्च स्तर के सुख की ओर अग्रसर होने लगेगा।

ऊपर की व्याख्या एक तरह की शिक्षा की ही व्याख्या है।

यह मन के विकास की व्याख्या है; बुद्धि की शिक्षा और शरीर के विकास की शिक्षा की नहीं। यही आध्यात्मिक शिक्षा है। एक प्रश्न यह उठता है कि

निद्रा के समय आनन्द और चित्त क्यों उभरता है? और; क्रियाओं के समय क्यों दबता है?

इसका उत्तर यह है कि मन; केवल दो अवस्थाओं में रहता है। कभी तो बाहर की क्रियाओं के बन्धन की अवस्था में रहता है; और कभी बन्धन मुक्त अवस्था में।

1) बन्धन की अवस्था में वह सदा बाह्य जगत में रहता है और; यह बन्धन भी बाह्य जगत की क्रियाओं के ही होते हैं। इस अवस्था में मन की शक्ति व्यय होती है।

2) बन्धनमुक्त अवस्था में मन; शक्ति प्राप्त करता है। शक्ति की दुनिया तो अन्दर है। इसलिए बन्धन मुक्त अवस्था में निश्चय ही मन; अन्दर की दुनिया में रहता होगा। इस तरह समझ में आता है कि; जिन क्षणों में मन बन्धन मुक्त रहता है – उन क्षणों में ही मन भावातीत क्षेत्र (Transcendental Field) में विचरण करता है। (दूसरे शब्दों में मन में ज्यादा से ज्यादा ब्रह्म की शक्ति रहती है), जिससे कि समय बीतने के साथ साथ मन की अवस्था बढ़ती ही चली जाती है। यदि ऐसा होगा तो; बाहर के जगत में भी सत् उभरता ही चला जाएगा। दूसरे शब्दों में बाहर का जगत उम्र बढ़ने के साथ साथ, ज्यादा सुखदायी होता जायेगा; तथा अपने जीवन के साथ साथ कुटुम्ब, पड़ोसियों और साथियों के बीच भी समस्याएं कम होती चली जाएंगी।

किन किन क्षणों में ईश्वरीय शक्ति; ऊपर बताया हुआ अनुभव उभारती है और किन क्षणों में दबाती है? आधार पर ही प्रयासहीनता के अभ्यास के माध्यम से, ईश्वर के ध्यान की विधि निकली और; इस विधि के माध्यम से मनुष्य धीरे धीरे चेतना का विकास करता है।

चेतना या होश (Consciousness) अनुभव की शक्ति है।

सृष्टि; दो जगत में बंटी है – अन्दर का जगत और; बाहर का जगत।

दोनों जगतों को; अनुभव करने की चेतना की आवश्यकता है। ऐसा कोई व्यक्ति नहीं मिलता जिसके पास बाहर के जगत को अनुभव करने की चेतना ही नहीं है। लेकिन ऐसे व्यक्ति तो बहुत मुश्किल से मिलते हैं; जिनके पास अन्दर के जगत को अनुभव करने की शक्ति भी हो। समाज में हम देखते हैं कि सभी का विश्वास है कि; सबके अन्दर ईश्वर है, लेकिन उसकी अनुभूति किसी को नहीं होती। इसीलिए उसका ज्ञान भी नहीं होता। इसलिए उपर्युक्त चेतना के विकास का अर्थ

तो केवल; आन्तरिक चेतना के विकास से है। यह आन्तरिक चेतना; धीरे धीरे बाहरी चेतना में पिरो जाती है।

जिस प्रकार दूध दो तरह का होता है – शुद्ध और मक्खन निकला। शुद्ध दूध में मक्खन पिरोया हुआ होता है। इसी प्रकार चेतना दो प्रकार की होती है –

1) बाह्य जगत की चेतना; जिसमें आन्तरिक जगत की चेतना पिरोई होती है।

2) बाहर के जगत की चेतना – आन्तरिक जगत की चेतना की कमी में – जिस प्रकार थोड़ा बहुत मक्खन तो मखनिया दूध (सपरेटा) में भी होता ही है, इसी तरह बाहर के जगत की चेतना में आन्तरिक चेतना बिलकुल न हो; इसकी सम्भावना तो हो ही नहीं सकती। लेकिन बाह्य जगत की चेतना में आन्तरिक जगत की पूर्ण चेतना पिरो दी जाए, यही अध्यात्म शिक्षा का ध्येय होगा।

आन्तरिक चेतना चार तरह की होती है :–

1) भावातीत चेतना (Transcendental Consciousness)

2) ब्राह्मी चेतना (Cosmic Consciouness)

3) ईश्वरीय चेतना (God Consciousness)

4) अद्वैत चेतना (Union Consciousness)

भारतवर्ष में एक युग था जबकि मनुष्य; अपना जीवन अध्यात्म की शक्ति के आधार पर ही बिताता था। इतिहास बताता है कि उस समय मनुष्य का जीवन 25–25 वर्ष के चार कालों में बांट दिया गया था और जीवन के ये काल – (1) ब्रह्मचर्य, (2) गृहस्थ, (3) वानप्रस्थ और (4) संन्यास; के नाम से जाने जाते थे।

इन कालों में किस प्रकार उपर्युक्त चारों स्तर की चेतनाएं मन में उभारी जाती थीं?

कोई भी चेतना 14–15 साल से कम समय में पूर्णतया नहीं उभरती; लेकिन सभी तरह की शिक्षाओं के क्षेत्र में कोई व्यक्ति बहुत तेज और कोई बहुत कमजोर होता

ही है। कुछ बच्चे तो अनेक कक्षाओं में फेल भी होते ही रहते हैं। इसीलिए समाज में एक-एक चेतना उभारने के लिए 25 वर्ष रख दिए गए थे; जिससे कि इस लम्बे समय से सम्बन्धित चेतना के न उभरने की सम्भावना ही न रहे।

ब्रह्मचर्य का अर्थ है-ब्रह्म की दुनिया में मन का विचरण।

यही ध्यान के अभ्यास (Meditation) द्वारा होता है। लेखक की पुस्तिका 'ध्यान द्वारा जीवन की मौलिक शक्तियां'; के अध्याय-''मन का विकास'', में बहुत विस्तारपूर्वक यह समझाया गया है कि, ध्यान के नियमित अभ्यास द्वारा किस प्रकार मन; विचार उद्‌गम स्थान के समीप रहता हुआ, बाह्य जगत में क्रिया करने योग्य होने लगता है ? ज्यों ज्यों मन विचार उद्‌गम स्थान की ओर अग्रसर होता है - त्यों त्यों मनुष्य के जीवन में आनन्द के उभार की तीव्रता बढ़ती है।

शुरू में तो आनन्द केवल ध्यान के समय महसूस होता है; लेकिन धीरे-धीरे क्रियाओं के क्षेत्र में भी बना रहने लग जाता है।

ज्यों ज्यों क्रियाओं के क्षेत्र में आनन्द बढ़ने लगता है - आनन्द (आन्तरिक सुख) और ज्ञानेन्द्रियों के जगत का सुख-ये दोनों ही मन को अपनी ओर खींचने लगते हैं। धीरे धीरे आनन्द मन को अपनी ओर खींचने में सफल होने लगता है और सुख हारने लगता है। लेकिन कुछ ऐसे भी क्षण होते हैं-जबकि; सुख जीत जाता है और आनन्द हार जाता है। धीरे धीरे वह समय बढ़ता जाता है जबकि 'आनन्द' सुख को हराता है।

स्वाभाविक है कि एक समय ऐसा आएगा जबकि क्रियाओं के क्षेत्र में हर समय जीत 'आनन्द' की ही होगी। यहां तक कि निद्रा और स्वप्न की अवस्था में भी आनन्द का अनुभव बना रहने लगेगा।

यही चेतना की अवस्था है-जबकि मन; स्थायी रूप से विचार उद्‌गम स्थान पर स्थित होकर, बाहर के जगत में आने की अवस्था में हो जाता है। यही वह अवस्था है जबकि, भावातीत चेतना पूर्ण रूप से विकसित हो गई - ऐसा कहा जाता है।

ऊपर जिस युग की बात कही गई है-उस समय मनुष्य, आत्मा की शक्ति की शिक्षा के आधार पर जीवन बिताता था। आज के युग में मनुष्य, बुद्धि के

विकास की शिक्षा के आधार पर जीवन बिताता है। पहले भी माता पिता यही चाहते थे कि जब बच्चे अपने पैरों पर खड़े होने योग्य हो जाएं - उसी समय उनका विवाह होना चाहिए। आज के समाज में भी अधिकांश मां-बाप यही चाहते हैं। बुद्धि के विकास के आधार पर भी कुछ ही लोग 25 साल के पहले अपने पैरों पर खड़े होने योग्य होते हैं। आज भी ज्यादातर लोगों का ब्याह 25 साल के बाद ही होता है। लेकिन युग बीतने के साथ हर पुरानी परम्परा का आधार, समाज के व्यक्तियों के ज्ञान के स्तर से गायब हो जाता है। यही कारण है कि शिक्षाओं का रूप ही बिगड़ जाता है। धीरे धीरे ब्रह्मचर्य का अर्थ लोग; ध्यान के बजाय, विवाह न करने से लगाने लग गए।

25 साल के ध्यान के अभ्यास से मन में इतनी शक्ति बढ़ जाती थी कि हर मनुष्य अपना या कुटुम्ब का जीवन, इच्छा शक्ति के सहारे चलाने लग जाता था। इसीलिए 25 साल के बाद लोग विवाह करके अपना नया जीवन शुरू करते थे। जैसा कि हम लोगों ने ऊपर देखा, ज्यों ज्यों मन में आनन्द उभरता है - सुख और आनन्द में झगड़ा होता है। लेकिन गृहस्थ जीवन में, जहां पर कि माता पिता, बच्चे, पत्नी; सभी होते हैं - तरह तरह की क्रियाएं स्वाभाविक हो जाती हैं। यह भी निश्चय है कि अलग अलग कुटुम्ब की क्रियाएं भिन्न भिन्न ही होंगी।

25 वर्ष के ध्यान के अभ्यास के बाद 'आनन्द' इतना उभर जाता था कि ध्यान 'करने' की बात तो सोची ही नहीं जा सकती। ध्यान तो स्वत: ही होता था।

लेकिन अन्दर के इस खिंचाव के बावजूद; लोगों को तरह तरह की क्रियाओं में आना ही पड़ता था। और यह जीवन अपने आप में प्रयोगात्मक स्तर की शिक्षा (Practical education) थी। इससे अलग अलग क्रियाओं के क्षेत्र में आनन्द पिरोया जाने लगता था। जिस प्रकार; यदि एक पिता के चार बच्चे हों - तो वे आपस में झगड़ा जरूर करेंगे। लेकिन यह सभी का अनुभव है कि झगड़ा करके खेलते खेलते ही उनमें आपस में प्रेम भी पैदा होता है। बिल्कुल इसी तरह; ज्यों ज्यों अन्दर का आनन्द उभरता है, त्यों त्यों बाहर की क्रियाएं अच्छी लगें - ऐसा तो सम्भव ही नहीं। लेकिन अच्छा लगे या न लगे; क्रियाओं में बार बार आने से

आनन्द क्रियाओं के क्षेत्र में इस प्रकार रहने लग जाता था – जैसे आनन्द क्रियाओं के क्षेत्र में आने का विरोध करता ही नहीं। मन की इस अवस्था को ही हम कहते हैं कि; क्रियाओं के क्षेत्र में भी आनन्द पिरो गया है।

25 साल के लम्बे अभ्यास के बाद हर तरह की क्रिया (आनन्द के साथ) करने का मनुष्य को अभ्यास हो जाता था। समाज मानता था कि ब्राह्मी (Cosmic) चेतना के विकास की शिक्षा पूरी हुई। और यहीं से ईश्वरीय (God) चेतना के विकास की शिक्षा शुरू होती है।

हमने ऊपर देखा ब्राह्मी चेतना तक क्रिया की सफलता जिसके भी जीवन में साथ साथ चलती है – उसका जीवन सुखों से भरा ही रहेगा। दु:ख की बात तो केवल वहां होती है – जहां क्रियाओं में असफलता है। रामायण में कहा गया है–

जो इच्छा करिहौ मन माहीं।

हरि प्रसाद कछु दुर्लभ नाहीं॥

ऊपर की चौपाई में बताया हुआ 'हरि प्रसाद' – आनन्द ही है। जिसके अन्दर आनन्द है; उसकी इच्छाएं तो पूरी होंगी ही – चाहे अपनी इच्छाओं की पूर्ति से सम्बन्धित क्रियाएं वह स्वयं करे; या चाहे कोई दूसरा करे। जिसकी उम्र पचास वर्ष से ऊपर हो जाती थी; वह साधना के क्षेत्र में इतने ऊपर चला जाता था कि – उसे किसी भी तरह की क्रिया का करना अनिवार्य नहीं रह जाता था। पूरे कुटुम्ब – बच्चे, बहू, पोते, पोतियों के मन में हमेशा यह रहता था कि; हमारे कुटुम्ब में जो सबसे बड़े हैं – वे तो सबसे शक्तिशाली हैं। इसलिए वे सभी के शिक्षक के रूप में अपने घर में रहते थे – उनका सम्बन्ध तो रहता ही था। कितना आसान हो जाता है यह समझना कि; उस समय बड़ों का आदर न करने की बात, किसी के मन में आ ही नहीं सकती थी। बड़ों का आदर करना छोटों का स्वभाव बनना, स्वाभाविक था – क्योंकि जो बड़ा था–वह शक्तिशाली भी था। यदि हम आज के समाज की ओर देखें तो; शक्तिशाली मनुष्य का आदर कौन नहीं करता ?

लेकिन ज्यों ज्यों अध्यात्म की शिक्षा के आधार पर जीवन, समाज से गायब हो गया और बुद्धि के विाकस के आधार पर जीवन चलने लगा; त्यों त्यों एक दूसरे तरह का सत्य सामने आने लगा।

यह सत्य है कि आज के युग में युवा पुत्र, अपने वृद्ध माता पिता से अधिक शक्तिशाली है। इस अवस्था में बड़े बूढ़ों का आदर करना कर्तव्य (Duty) बताया गया – ऐसा करना चाहिए, यह ठीक है। ऐसा करना चाहिए बताते समय लोग; पुराने युग के जीवन की ओर संकेत करते हैं। लेकिन संकेत करते समय उस युग के जीवन का आधार क्या था – इसका ज्ञान किसी को नहीं है। इसीलिए मनुष्य; इस युग के लोगों को दोषी ठहरा रहा है। वानप्रस्थ की अवस्था में जो भी व्यक्ति होता था – उसके संरक्षण और मार्गदर्शन में ही उसका कुटुम्ब चलता था। वानप्रस्थ की अवस्था में धीरे धीरे मनुष्य की साधना; और आगे जाती थी और उसका जीवन क्रियाओं की शक्ति के बजाय; एक मात्र इच्छा पूर्ति शक्ति के आधार पर चलने लगता था।

इच्छा पूर्ति शक्ति को ही ईश्वरीय शक्ति कहते हैं और इसीलिए चेतना की इस अवस्था का नाम ईश्वरीय चेतना (God Consciousness) पड़ा।

टी.वी. पर रामायण के सीरियल में भी कुछ जगहों पर राम के लिए कहा गया कि – एक मात्र इच्छा द्वारा वे सब कुछ करने योग्य थे।

जब मनुष्य एकमात्र इच्छा द्वारा सब कुछ करने योग्य हो जाता है, उस अवस्था को हम कहते हैं कि; अब ईश्वरीय चेतना का विकास पूर्ण हुआ।

इन सब बातों की पुष्टि के लिए यदि हम आज के युग में बड़े बड़े महात्माओं के जीवन की ओर अपनी दृष्टि ले जाएं; तो हम पाऐंगे कि हर महात्मा के जीवन में एक समय आता है – जब वह क्रियाओं के क्षेत्र में हर तरह की सफलता के साथ विचरण करता है। लेकिन धीरे धीरे एक समय ऐसा भी आता है – जब वह चुपचाप बैठ जाता है। कुछ लोग तो यह भी कहते हैं कि; समाज सेवा दो तरह से

की जा सकती है – एक जैसे नदी है, दूसरा जैसे झील करती है। नदी की भांति घूम घूम कर सेवा करने वाले महात्मा की अपनी एक अवस्था होती है। लेकिन

झील की तरह एक जगह बैठकर सेवा करने वाले महात्मा की अवस्था निश्चय ही अधिक उच्च स्तर की होगी; यदि उसके अपने जीवन का आधार चेतना का विकास रहेगा।

वानप्रस्थ की अवस्था लगभग 75 साल तक की होती है। उसके बाद संन्यास का जीवन प्रारम्भ होता है। यह जीवन अद्वैत (Union) चेतना के पूर्ण विकास के लिए होता था। हमने ईश्वरीय चेतना के बारे में ऊपर देखा कि; इस अवस्था में सोचने मात्र से इच्छाएं पूरी हो जाती थीं। लेकिन जिस समय हम ईश्वरीय शक्ति के स्वभाव को समझने की कोशिश कर रहे थे – उस समय हम लोगों ने देखा था कि; यह शक्ति बिल्कुल उस प्रकार की है – जेसे कि एक पेड़ की जड़ें; जमीन, खाद, पानी, हवा और रोशनी से एक प्रकार का रस लेती हैं–जिसे कि अंग्रेजी में sap कहते हैं। एक मात्र sap की यह शक्ति है कि; वह पेड़ को सब कुछ दे दे – जैसे कि तना, डाली, पत्ती, फूल और फल इत्यादि। लेकिन इस रस में भी यह शक्ति नहीं है कि; पेड़ को पहले पत्ती और बाद में तना दे। हर पेड़ में फल लगने का एक समय होता है। हम खाद और पानी बढ़ाकर फल को समय से पहले नहीं पा सकते। मनुष्य के अन्दर जीवात्मा की शक्ति इसी प्रकार की शक्ति है। मैं केवल यह कहना चाहता हूं कि

जो मनुष्य ईश्वरीय चेतना में है; उसका भी समय पर कोई नियन्त्रण नहीं है।

अध्यात्म जगत की यह कहावत भी मशहूर है कि –

'मनुष्य बली नहीं होत है – समय होत बलवान।'

इसीलिए जो मनुष्य; ईश्वरीय चेतना से अद्वैत चेतना की ओर चला जाता है – उसे मनुष्य के बजाए अतिमानव (superhuman) कहने लग जाते हैं। यह महत् शक्ति; ईश्वरीय शक्ति से भी बड़ी है। समय भी इसके ऊपर नहीं है। ईश्वरीय चेतना के बाद का जो समय होता है – उसमें धीरे धीरे ऐसी ही चेतना उभरती है।

केवल अद्वैत चेतना में ही यह शक्ति है कि; शून्य में से वह तत्काल जो चाहे – पा सकती है।

ऐसी चेतना के बहुत से उदाहरण आध्यात्मिक इतिहास में पाए जाते हैं जैसे

1) थोड़े दिन पहले ही जब टी.वी. पर विश्वामित्र का सीरियल चल रहा था – हमने इसमें देखा कि सत्यवादी राजा हरिश्चन्द्र से पूरा राजपाट ले लेने के बाद, ब्रह्मर्षि विश्वामित्र ने अपने एक ऋण की याद दिलाई। राजा ने ऋण उतारने के लिए समय मांगा – तो महर्षि ने अपना ऋण वसूलने के लिए हरिश्चन्द्र के कुटुम्ब के साथ अपना एक शिष्य छोड़ दिया। रास्ते में जब उसे प्यास लगी; तब हरिश्चन्द्र स्वयं, सब को छोड़ कर पानी लेने चले गए और थोड़ी देर में ही उनके शिष्य ने नाटक करना शुरू किया कि; मारे भूख के उसका तो प्राण ही निकल जाएगा।

राजा हरिश्चन्द्र की पत्नी ने विवश होकर परमात्मा का सुमिरन करके प्रार्थना की कि; यदि वह और उनके पति सत्य धर्म का सच्चे दिल से पालन कर रहे हों – तो ब्राह्मण के मरने का पाप उनके ऊपर नहीं आना चाहिए। सुमिरन करते ही तत्काल पेड़ में फल लग गए।

यह अद्वैत चेतना का ही एक उदाहरण है।

2) महाभारत के सीरियल में भी हम बहुधा इन्द्र जैसे देवता या कुछ ऋषियों के विषय में देखते हैं कि; जब वे किसी पर अधिक प्रसन्न होते हैं – तो वे पूछते हैं कि, तुम्हें क्या चाहिए ? मांगने वाले चाहे कुछ भी क्यों न मांगे – उनके हाथ में तुरन्त मांगी चीज आ जाती थी। ये सब अद्वैत चेतना के उदाहरण हैं।

3) रामायण पढ़ने वाले भी यह बताते हैं कि जब श्रीराम और लक्ष्मण से मिलने राजा जनक चित्रकूट पहुंचे – तो

''कामद भे गिरि राम प्रसादा' और 'बेलि विटप सब सफल सफूला''

सभी वृक्षों और लताओं में फल-फूल आ गए।

4) इसी प्रकार माता पार्वती के जन्म लेते ही :-

सदा सुमन फल सहित सब द्रुम नव नाना जाति।
प्रगटीं सुन्दर सैल पर मनि आकर बहु भांति॥

सभी वृक्ष – ऋतु हो या न हो, फूल और फलों से लद गए और पर्वत में अनेक तरह की मणियां उत्पन्न हो गईं। यह सभी उदाहरण अद्वैत चेतना के हैं।

> **आज के समाज का एक साधारण मनुष्य तो यह भी नहीं जानता कि; आध्यात्मिक शिक्षा भी कोई शिक्षा है? इसलिए आध्यात्मिक और बौद्धिक शिक्षा में अन्तर जानना तो; बहुत दूर की बात हो गई। इसलिए उस अध्यात्म की यह घटनाएं, केवल कहानियां ही लगती हैं; सत्य मालूम होता ही नहीं।**

अध्यात्म की इन घटनाओं की सत्यता को पूर्ण रूप से समझने के लिए, मन की चेतना का विकास आवश्यक है। इन घटनाओं को बिना समझे विश्वास कर लेने के लिए, कम-से-कम ऊपर बताई हुई चेतनाओं की अवस्थाओं के वर्णन का ज्ञान चाहिए। ईश्वरीय चेतना के पूर्ण विकास के बाद, इस अद्वैत चेतना का विकास आरम्भ होता है। आरम्भ में ही मनुष्य शून्य से तत्काल हर वस्तु पाने योग्य हो जाए – यह कहना तो गलत होगा। लेकिन धीरे धीरे जब वह शंकराचार्य जैसे महापुरुष की अवस्था में पहुंच जाता है। उनकी भी जीवन कहानी हमें यही बताती है कि; उन्होंने भी किसी के घर में तत्काल सोने के आंवले बरसा दिए थे। यह भी अद्वैत चेतना का ही एक उदाहरण है। समय बीतने के साथ साथ मनुष्य शून्य से हर चीज प्राप्त करने योग्य हो जाता है। हमारे जीवन का अनुभव यह बताता है कि;

> **हमें जिस वस्तु के चाहते ही मिल जाने का विश्वास होता है – उसके पाने की इच्छा तो मन में कभी नहीं रहती। अतः यह समझना कितना आसान है कि; अद्वैत चेतना ही इच्छा रहित अवस्था का आधार है।**

बहुत बड़े बड़े महात्मा ऐसे भी मिलते हैं – जिनका जीवन बहुत कम उम्र में ही समाप्त हो जाता है। लेकिन बहुत से महात्मा ऐसे भी मिलते हैं – जिनकी उम्र बहुत लम्बी होती है। कहते हैं ब्रह्मर्षि बाल्मीकि की आयु, एक हजार वर्ष से भी अधिक थी। लेकिन शंकराचार्य की आयु केवल 32 वर्ष की थी। इन दोनों की अवस्था में कमी बताना तो बहुत ही मुश्किल है; केवल इन महात्माओं की जीवन कथा की

ओर ध्यान ले जाने से बड़े ज्ञान की बात मिलती है। बाल्मीकि की जीवन कथा बताती है कि; उनकी जीवात्मा का पतन शायद इतना हो चुका था कि; उससे ज्यादे पतन वाला मनुष्य न तो समाज में मिलता है और न ही इतिहास में। फिर भी उच्चतम अवस्था तक पहुंचने के लिए उन्हें दूसरा जन्म नहीं लेना पड़ा। लेकिन अपनी आयु तो बहुत लम्बी करनी ही पड़ी। दूसरी जगह शंकराचार्य पैदा होते ही चेतना के इतने उच्च स्तर पर थे कि; केवल ग्यारह वर्ष की छोटी उम्र में ही उन्होंने सभी वेदों पर भाष्य लिख लिए थे और; देश के चारों कोनों में आध्यात्मिक शिक्षा के प्रचार केन्द्र स्थापित करने की दृष्टि से कार्य आरम्भ कर दिया था। यह घटनाएं इस सत्य के प्रतीक हैं कि; पहुंचना तो सबको एक ही जगह है। अपने जीवन की आयु बहुत लम्बी करके भी पहुंचा जा सकता है और; बिना लम्बा किए भी। लेकिन मन का जितना विकास एक जन्म में हो जाता है – दूसरा जन्म, उस विकास के साथ ही; वह उस से आगे लेता है।

श्री शंकराचार्य के विषय में तो यह भी कहा जाता है कि उन्हें मां के पेट में नौ महीने रहने की तकलीफ का भी ज्ञान था। लगता है कि वे अपनी ईश्वरीय चेतना का विकास पिछले जनम में ही कर चुके थे और; केवल अद्वैत चेतना के विकास के लिए ही यह जन्म लिया था।

जीवात्मा को केवल आत्मविकास के लिए ही शरीर धारण करना पड़ता है। विकास बिना त्रुटियों के होता ही नहीं। यह बात जीवन के किसी भी विषय पर अनुभव की जा सकती है। यदि विषय जीवन हो – तो भी यही सत्य रहेगा।

> **हर मानव की चेतना का विकास जागृत अवस्था से आगे – भावातीत चेतना, ब्राह्मी चेतना और ईश्वरीय चेतना से गुजरते हुए अद्वैत चेतना तक होना ही पड़ेगा।**

इसके लिए चाहे जितने जन्म लेने पड़ें। चाहे एक ही जन्म में आयु की वृद्धि के सहारे इस विकास को पूरा कर लिया जाए। चाहे शरीर बदलकर कई जन्मों में यह पूरा हो। आध्यात्मिक शिक्षा का यही लक्ष्य होता है। शून्य से कुछ भी प्राप्त करने की शक्ति अद्वैत चेतना में धीरे धीरे बढ़ती है और 20-25 वर्ष; इस अवस्था में

रहने के बाद अपने आप शून्य से सब कुछ प्राप्त करने की शक्ति पैदा हो जाती है। तभी यह कहा जायेगा कि; अद्वैत चेतना का विकास पूरा हुआ। जिस काल में यह शिक्षा पूरी होती है;

उस काल को ही सन्यास कहते हैं।

ऊपर के विवरण से यह आसानी से समझ में आ जाता है कि; बिना क्षति के जंगल में रहने की शक्ति तो केवल; अद्वैत चेतना की अवस्था में ही प्राप्त होती है। उससे पहले अपने कुटुम्ब में रहने की अवस्था में होने के कारण, वह वहीं रहता है।

धीरे धीरे आध्यात्मिक शिक्षा समाज से गायब हो गई।

लोग, धीरे धीरे बुद्धि के विकास के सहारे जीवन बिताने लगे। धीरे धीरे चेतना की चारों अवस्थाओं का अर्थ भी बदलने लगा। बिना विवाह किए - आचरण को बनाना, ब्रह्मचर्य का जीवन कहलाने लगा। विवाहित जीवन कुछ दिन (लगभग 25 वर्ष) बिताने के बाद, ज्यों ज्यों मनुष्य जीवन के अलग अलग क्षेत्रों में शक्तिहीन होने लगता है - या यों कहें कि सेवा निवृत्ति अवस्था की ओर बढ़ने लगता है - वह अपने को वानप्रस्थ अवस्था में समझने लगता है। गलत फहमियां (Ignorance) इस हद तक बढ़ गई है कि केवल जोगिया वस्त्र पहन कर अपना कुटुम्ब छोड़ देने को ही सन्यास कहा जाने लगा। यह सारी गलत फहमियां चेतना के स्तर पर दूर हो जाएं - **इसका एकमात्र रास्ता ध्यान है।**

खण्ड और अखण्ड

यह सृष्टि दो भागों में बंटी है। अनुभव से परे का क्षेत्र और; अनुभव का क्षेत्र। अनुभव से परे का क्षेत्र; अद्वैत तत्व का एक बहुत बड़ा समुद्र है। यह अद्वैत तत्व अखण्ड है और; इसकी शक्ति को ही अखण्ड शक्ति कहते हैं।

यह शक्ति, 84 लाख जड़ों (योनियों) के माध्यम से अनुभव के जगत में तीन रूपों में प्रगट होती है - (1) निर्जीव, (2) शक्ति; और (3) प्राणी।

इन तीन रूपों के माध्यम से अनुभव का क्षेत्र, अनन्त विस्तार के साथ अनादि और अनन्त है। इस अनुभव के जगत् में ऐसी कोई चीज नहीं मिलती -जिसका विलोम न हो। या यों कहें कि; अनुभव का जगत तो विलोम तत्वों के माध्यम के ही बल पर है।

इसीलिए इस जगत् को द्वैत का जगत् भी कहते हैं।

द्वैत के क्षेत्र के कण कण में अलग अलग रूपों में शक्तियां विद्यमान हैं -

उदाहरण के लिए जैसे - खाने, हवा, अग्नि, प्राणियों की और भिन्न भिन्न पदार्थों की शक्तियां; इत्यादि।

इन द्वैत के तत्वों को ही खण्ड और; इनकी शक्तियों को ही खण्ड की शक्तियां कहते हैं।

यदि मनुष्य अपने जीवन की ओर देखे तो उसे ज्ञान होगा कि सभी अपनी जरूरतों को पूरा करने में व्यस्त हैं। ये जरूरतें उनकी अपनी अवस्था के अनुसार होती हैं। प्राणियों में यह अवस्था उनके पिछले संस्कारों के आधार पर होती है। अपनी अपनी जरूरतों को पूरी करने के लिए हर प्राणी; तरह तरह की शक्तियों की खोज में लगा रहता है। जीवन का ध्येय हमेशा यह होता है कि; कैसे वह बड़ी से बड़ी शक्ति पा जाए? ऊपर हमने देखा कि; सारी शक्तियां खण्ड और अखण्ड की शक्ति के रूप में ही हैं।

अखण्ड की शक्ति हमेशा असीम होती है।

सीमाओं से इस शक्ति का कोई सम्बन्ध नहीं होता। यदि कोई अखण्ड की शक्ति

को धीरे धीरे खण्ड के सीमित पहलुओं में उतारने की विधि प्राप्त कर लें तो; वह जीवन के अनन्त पहलुओं को धीरे धीरे अनन्त की ओर अग्रसर करने में सफल हो जायेगा। जीवन के सीमित पहलुओं में असीम की शक्ति, मनुष्य के मन में उभरे हुए संकल्पों के आधार पर कम या अधिक प्रवेश करती है।

इस बात को विस्तार से समझने के लिए लेखक की पुस्तिका – ''साधना'' में सुमिरन का लेख देखें। लेकिन जो भी अपने जीवन में इस शक्ति को उभारता है, उसके जीवन में कोई भी पहलू समय बीतने के साथ आगे बढ़ने की बजाय – पीछे कभी नहीं जाता। जो मनुष्य ऐसा जीवन पाने में सफल हो जाते हैं, केवल उन्हीं के लिये हम कह सकते हैं कि; उनकी जीवात्मा हमेशा ही उत्थान की ओर रही; और पतन की ओर कभी नहीं रही।

जिस प्रकार से अखण्ड की शक्ति के क्षेत्र में सीमाओं की कभी कोई बात नहीं होती; बिल्कुल उसी तरह से खण्ड की शक्तियों के क्षेत्र में असीम की कोई बात नहीं होती। इसीलिए वह जीवन के सारे पहलुओं को एक साथ उभारने में कभी सफल नहीं होती। क्योंकि हम जब भी सारे पहलुओं की बात कहेंगे–असीम पहलुओं की बात आ जाएगी।

> **खण्ड की शक्तियां जीवन में क्रियाओं के ज्ञान के सहारे उभारी जाती हैं। कर्म के ज्ञान के सहारे ये शक्तियां; कभी कुछ करके उतारी जाती हैं और कभी – कुछ न करके।**

दूसरे शब्दों में इन शक्तियों को जीवन में उतारने का आधार; क्रियाओं का ज्ञान है। किसी पहलू से सम्बन्धित कर्मों का ज्ञान 'विषय ज्ञान', कहलाता है। विषयों का ज्ञान, बुद्धि की शक्ति से होता है। इसलिए बुद्धि का जैसा विकास होता है; वैसा ही फल मिलता है।

जीवन अनन्त पहलुओं में बंटा हुआ है।

कुछ पहलू बाहर के जीवन को संवारते हैं। उदाहरण के लिए – धन, मकान, विज्ञान और दूसरे विषयों के बहुत से ज्ञान। कुछ पहलू अन्दर के जीवन को संवारते हैं – जैसे स्वास्थ्य, मन के दु:ख को कम करना, बुद्धि की परेशानी को

कम करना; इत्यादि। जीवन के पहलू बाहर के हों, या अन्दर के – खण्ड और अखण्ड दोनों तरह की शक्तियों से संवारे जा सकते हैं।

अन्दर के पहलुओं को संवारने के रास्ते को साधना कहते हैं।

बाहर के पहलुओं को संवारने के रास्तों को स्कूल और कॉलेज का ज्ञान कहा जाने लगा है। लेकिन दोनों; विषयों का ही ज्ञान है।

उपरोक्त बातों के आधार पर हम आसानी से समझ सकते हैं कि; साधनाएं भी दो तरह की सम्भव हैं – खण्ड की शक्तियों के माध्यम से और; अखण्ड की शक्ति के माध्यम से।

> **खण्ड की शक्ति के माध्यम से जब साधना की जाएगी तो; जीवन में उसका प्रभाव अवश्य दिखायी पड़ेगा। लेकिन इन प्रभावों में अखण्डता के गुणों का समावेश सम्भव नहीं होगा। अखण्डता के गुणों का समावेश तो केवल तब होगा; जब साधना का आधार ही अखण्ड की शक्ति होगी।**

प्रश्न यह उठता है कि अखण्ड के गुणों के समावेश का क्या अर्थ होगा? खण्ड की शक्ति तो केवल कुछ सीमित पहलुओं को उठा सकती है; किन्तु अन्य दूसरे पहलुओं को छोड़ देती है। जब मनुष्य किसी एक पहलू में बहुत ऊपर उठने लगता है तो; किसी दूसरे पहलू में पहले की अपेक्षा कुछ नीचे ही रह जाता है। जिस प्रकार से ऐसा कोई बच्चा नहीं मिलता – जिसे परीक्षा के सारे विषयों में एक समान अंक प्राप्त हों। किसी विषय में वह बहुत अधिक तेज हो जाता है, तो कुछ अन्य विषयों में उसे कुछ कम अंक प्राप्त होते हैं। लेकिन अखण्ड का सबसे बड़ा गुण अविरल उत्थान (Ever Progressing) है; और वह भी अनन्त पहलुओं में। किसी एक पहलू में ज्यादा ऊपर उठने से वह दूसरे पहलुओं में पीछे नहीं रह जाता; भले ही दूसरे पहलुओं में वह उसी गति से ऊपर न उठे। अधिक अच्छी तरह से समझने के लिए जीवन से कुछ उदाहरण लेते हैं।

1) मनुष्य कोई व्यापार करता है – यह सोचकर कि उसके जीवन में धन बढ़ेगा। लेकिन ऐसा करने में वह अक्सर यह देखता है कि; अपने कुटुम्ब के प्रति वह

अपने कर्तव्य का पालन करने में पिछड़ जाता है। जैसे बच्चों को शिक्षा उतनी अच्छी तरह से नहीं दे पाता - जितनी अच्छी तरह वह देना चाहता था। यदि वह बच्चों की उचित शिक्षा की ओर र्प्याप्त ध्यान देता तो; व्यापार में पीछे रह जाता। इसी तरह के अनन्त उदाहरण इतनी आसानी में मिल सकते हैं कि; लिखने की आवश्यकता नहीं है। अब हम यह देखेंगे कि

दोनों तरह की साधनाएं जीवन में कैसे सम्भव हैं?

कर्मकाण्ड - जैसा कि हमने ऊपर देखा कि कर्म के ज्ञान के आधार पर की जाने वाली साधना - कर्मकाण्ड की साधना कहलाती है; और इसका विस्तार अनन्त तक है। कर्मकाण्ड की साधनाएं महर्षि व्यास द्वारा लिखी गई हैं; और ये छोटी साधनायें नहीं हैं। यह दूसरी बात है कि, किसी को कर्मकाण्ड की सारी साधनाओं का ज्ञान न होकर - केवल कुछ ही साधनाओं का ज्ञान हो; लेकिन कर्मकाण्ड का विषय अपने आप में कोई छोटा विषय नहीं है।

कर्मकाण्ड के माध्यम से तो इन्द्रियों पर नियन्त्रण भी सम्भव है।

कहते हैं कि शरीर में सात चक्र होते हैं और; उनको जागृत करने के बाद जीवन में ईश्वरीय शक्ति फूट पड़ती है। हमारे यहां के बड़े बड़े ऋषि - जैसे दुर्वासा, विश्वामित्र इत्यादि; इस रास्ते के उल्लेखनीय उदाहरण हैं। इन्हीं रास्तों पर चलकर, अर्जुन भी इन्द्र के यहां से दिव्यास्त्र लाने में सफल हो गए थे। लेकिन जैसा कि ऊपर बताया गया है - इस रास्ते द्वारा जीवन के सारे पहलुओं को एक साथ उज्ज्वल करना बहुत कठिन है।

जीवन का सबसे महत्वपूर्ण पहलू तो 'मन' है।

हर मनुष्य के पास विकास करने के लिए मन, बुद्धि और शरीर हैं। इनमें केवल 'मन' ही ऐसा अस्तित्व है - जो खण्ड और अखण्ड दोनों क्षेत्रों में विचरण करने में समर्थ है। आप अपने जीवन की ओर देखें तो; पता चलेगा कि जीवन केवल दो तरह के क्षणों में बंटा हुआ है - (1) कभी तो वह कर्म ज्ञान के अधीन होता है, और कभी; (2) वह कर्म ज्ञान की अधीनता से स्वतन्त्र होता है।

जिस समय वह कर्म ज्ञान के अधीन नहीं है - उस समय वह संस्कारों के क्षेत्र

में विचरण करता है। संस्कारों की दुनिया में ब्रह्म के तत्व पिरोये हुए हैं - जैसे दूध में मक्खन पिरोया हुआ होता है।

> **जैसे ही मन संस्कारों के क्षेत्र में विचरण करने लगता है; उसका सम्पर्क ब्रह्म के तत्व से होने लगता है और; इस सम्पर्क की अनुभूति एक बहुत बड़े सुख (आनन्द) के रूप में - जो ज्ञानेन्द्रियों के सुख से भिन्न है - होती है।**

ज्यों ज्यों यह सुख अधिक उभरता है, मन सुख की तलाश में इस क्षेत्र की ओर; और ज्यादा मुड़ता है। दूसरे शब्दों में ऊपर बताए हुए दूसरी तरह के क्षण जीवन में बढ़ने लगते हैं। ज्यों ज्यों ये क्षण बढ़ते हैं - त्यों त्यों आनन्द की तीव्रता (Intensity) बढ़ती है। आशय यह है कि; आनन्द का उभरना और दूसरी तरह के क्षणों का बढ़ना - एक दूसरे को सहयोग देते हैं; और यह आनन्द, मन की शक्ति है। जीवन इच्छाओं से भरा हुआ है। ये इच्छाएं मन में ही उभरती हैं। इन इच्छाओं की पूर्ति के लिए मन को शक्ति चाहिए अर्थात्

इच्छा पूर्ति शक्ति ही मन की शक्ति है।

इच्छा पूर्ति दो शक्तियों के सहारे होती है - खण्ड की शक्ति के सहारे और; अखण्ड की शक्ति के सहारे। या यों कहें कि कर्म के ज्ञान की शक्ति के सहारे और; होने की शक्ति के सहारे।

होने की शक्ति लीला शक्ति कहलाती है।

अखण्ड की शक्ति, भाग्य के नाम से भी जानी जाती है। जीवन में हमें अनन्त घटनाएं ऐसी मिलती हैं; जब मनुष्य क्रिया किसी उद्देश्य से करता है - लेकिन अकस्मात उसका हानि या लाभ; औरों को भी मिल जाता है - जिसको हानि या लाभ पहुंचाने की बात क्रिया करने वाले के मन में रहती ही नहीं। यह अखण्ड की लीला शक्ति द्वारा होता है।

हमने यह देखा कि; बुद्धि और कर्म का ज्ञान तो - कर्मकाण्ड का आधार है। लेकिन संस्कारों के क्षेत्र में स्वाभाविक रूप से मन का विचरण, मन को शक्ति देता है। यह मन की साधना है। इस रास्ते पर बहुत सी साधनाएं - केवल होने की

शक्ति के सहारे, इस तरह से होने लगती हैं – जैसे मन अपने आप संस्कारों के क्षेत्र में चला जाता है; ले जाया नहीं जा सकता।

जरा ध्यान से देखें तो पता चलेगा कि मन की यह साधना मन का स्वभाव है; और शायद मन को इस साधना से अलग किया ही नहीं जा सकता। इस साधना की ओर केवल मन को सहयोग दिया जा सकता है; और यही उपासना काण्ड का ध्यान है और इस रास्ते पर होने वाली सारी साधनायें उपासना की साधनायें हैं।

कर्मकाण्ड द्वारा ईश्वर की उपासना, उपासना काण्ड की साधनाओं से भिन्न होंगी। हम ऊपर बता चुके हैं कि; कर्म के ज्ञान के माध्यम से भी ईश्वरीय शक्ति, जीवन में उभारी जा सकती है। उपासना का अर्थ है – ईश्वर के समीप जाना। इस तरह से कर्मकाण्ड की उपासना कई तरह से सम्भव है। बिना किसी कर्म के ज्ञान के; मन केवल अपने स्वभाव से ईश्वर के समीप चला जाय, यह तो पहली उपासना पद्धति से भिन्न प्रकार की उपासना हुई। और यही उपासना काण्ड की साधना है।

वेद का हर अध्याय तीन भागों में बंटा हुआ है –

कर्मकाण्ड, उपासना काण्ड और ज्ञानकाण्ड।

अब हर साधक आसानी से समझ सकता है कि; कर्मकाण्ड और उपासनाकाण्ड की साधनाओं में क्या अन्तर है? और यह भी आसानी से समझ सकता है कि; उपासनाकाण्ड की साधनाओं में मन अखण्ड से शक्ति प्राप्त करके साधना करता है। लेकिन कर्मकाण्ड के रास्ते पर कर्म के ज्ञान की शक्ति द्वारा – (दूसरे शब्दों में खण्ड की शक्ति के माध्यम से), या तो जीवन को संवारता है, या खण्ड की शक्ति को – और अधिक बढ़ाता है।

उपासना के रास्ते पर हमने देखा कि; समय बीतने के साथ साथ मन में 'आनन्द' उभरता है और इस 'आनन्द' की तीव्रता ही इच्छा पूर्ति शक्ति है। या यह कहें कि इच्छाओं को पूरा करने के लिए – अखण्ड को जिस लीला की आवश्यकता है; उस लीला को जीवन में लाने का ज्ञान; इस 'आनन्द' में है। यही अखण्ड ज्ञान है। और

इतने बड़े ज्ञान की बात खण्ड के क्षेत्र में; न सोची जा सकती है और; न की जा सकती है।

यह जीवन का मूल ज्ञान है। इसी को विशुद्ध ज्ञान कहते हैं। आनन्द को महसूस करने की चेतना को विशुद्ध चेतना कहते हैं। काफी दिनों तक उपासनाकाण्ड के रास्ते पर चलते रहने के बाद मनुष्य की साधना; अपने आप उभरे हुए 'आनन्द' या 'विशुद्ध ज्ञान' या 'विशुद्ध चेतना' के आधार पर होने लगती है। ऐसा केवल उपासना के बड़े साधकों के जीवन में सम्भव है और; साधारण तौर से ऐसे साधक नहीं मिलते। साधनायें; जिनका आधार उभरा हुआ 'आनन्द' या 'विशुद्ध चेतना' है – उसका ही उल्लेख ज्ञान काण्ड में मिलता है।

कहते हैं कि; गोस्वामी तुलसीदास ने रामायण में लिखा है कि; जब तक जीवन में तप-सेवा-सुमिरन नहीं होगा; जीवन सफल नहीं होगा। लेकिन रामायण में ऐसा भी लेख मिलता है कि केवल सुमिरन भजन की साधना; अपने आप में पूर्ण है – क्योंकि भजन में तप और सेवा – दोनों का समावेश है। लेखक की पुस्तिका – 'साधना' में यह दर्शाया गया है कि; उपासनाकाण्ड की साधना 'ध्यान' में तप-सेवा-सुमिरन, बिल्कुल उसी तरह से पिरोया हुआ है – जिस प्रकार से कर्मकाण्ड के भजन की साधना में तप और सेवा का समावेश है। यही कारण है कि;

उपासना काण्ड का 'ध्यान' अपने आप में पूर्ण है।

यह दूसरी बात है कि; कर्मकाण्ड का ध्यान अपने आप में पूर्ण न हो। लेखक को कर्मकाण्ड के ध्यान का पूर्ण ज्ञान नहीं है। इसलिए उपर्युक्त वाक्य का यह मतलब निकालना गलत होगा कि; लेखक के विचार में कर्मकाण्ड का ध्यान; अपने आप में पूर्ण नहीं है। लेखक तो कवेल यही कहना चाहता है कि; वह गोस्वामी तुलसीदासजी से सहमत है। जीवन संवारने के लिए तप-सेवा-सुमिरन तो आवश्यक है-चाहे यह किसी ऐसी साधना के माध्यम से किया जाय, जिसमें इन तीनों का समावेश हो; और चाहे इन्हें अलग अलग साधनाओं द्वारा उल्लेख किया जाय। लेकिन यहां पर यह दुहराना ठीक होगा कि;

यदि साधना खण्ड की शक्ति के माध्यम से होगी – तो जीवन के अलग अलग पहलुओं से अखण्डता का गुण उभरना असम्भव होगा।

अब प्रश्न यह उठता है कि ऊपर बतायी हुई; उपासनाकाण्ड के ध्यान के माध्यम से जीवन के अलग अलग पहलुओं में अखण्डता के गुण कैसे उभरेंगे? 'साधना'; पुस्तिका में तपस्या के अध्याय में लेखक ने तपस्या की परिभाषा बताते समय लिखा है कि; तपस्या जीवन की कुछ प्राकृतिक घटनायें है। जीवन में अनन्त वस्तुयें हैं और; इन वस्तुओं का आपस में सम्पर्क होता ही रहता है। लेकिन कुछ सम्पर्क; ऐसे होते हैं–जिनके सम्पर्क होने वाली वस्तुओं में कोई एक वस्तु समय बीतने के साथ केवल निखरती ही चली जाती है। यह प्राकृतिक घटना ही तपस्या है। उदाहरण के लिए

सोना जब भी आग के सम्पर्क में आता है – तो निखरता है;

जब तक निखरते निखरते चरम सीमा तक न निखर जाय।

विद्यालयों में बच्चे, शिक्षक और पुस्तकों के सम्पर्क में आकर, अपनी बुद्धि को निखारते हैं; जब तक कि उनकी बुद्धि चरम सीमा तक न निखर जाय। कुछ लोग अपने शरीर को व्यायाम के सम्पर्क में लाकर निखारते हैं, कुछ लोग उपवास करके और इस प्रकार अपने शरीर को तपाते हैं। जब तक जीवन है – तब तक जीवन के सारे पहलुओं में 'मन' है। जिस समय चेतना – जिस विषय के क्षेत्र में विचरण करती है; उस समय 'मन' में अखण्ड की जितनी शक्ति होती है – केवल उसी अनुपात में जीवन का वह पहलू अखण्ड के माध्यम से निखरता है; और यह निखार अनन्त तक चलता चला जाता है। हमारे जीवन का अनुभव भी हमें बताता है कि; समय बीतने के साथ साथ जीवन में न मालूम कितने पहलू आते रहते हैं, और न मालूम कितने छूटते रहते हैं। जब 'मन' में अखण्ड की शक्ति नहीं होती – तब जीवन के बहुत से पहलू, बिना निखरे ही छूट जाते हैं,

लेकिन ज्यों ज्यों मन में अखण्ड की शक्ति, जागृत चेतना से भावातीत चेतना की ओर, भावातीत चेतना से ब्राह्मी चेतना की

ओर, ब्राह्मी चेतना से ईश्वरीय चेतना की ओर; और ईश्वरीय चेतना से अद्वैत चेतना की ओर प्रगति करती है – त्यों त्यों मन अपने आप में जीवन के अनन्त पहलुओं को, अनन्त स्तर तक निखारने में सक्षम हो जाता है।

द्वैत जगत में द्वैत तत्व की व्याख्या शुरू में की गई है। द्वैत तत्व के दोनों गुण हमेशा ही एक दूसरे के उल्टे होते हैं। जैसे – सुख और दुख, गर्म और ठण्डा, क्रिया और निष्क्रियता इतयादि।

द्वैत जगत के ये गुण जो देखने में एक-दूसरे के उल्टे हैं; कभी भी विरोधी नहीं होते बल्कि, हमेशा ही सहयोगी होते हैं। ये एक-दूसरे को भी सहयोग देते हैं और; जीवन को भी सहयोग देते हैं।

इसीलिए जीवन में ये हमेशा ही साथ साथ पाये जाते हैं और जीव, द्वैत के इन तत्वों से छुटकारा नहीं पाता। जैसे धूप और छांह – हमेशा अगल बगल रहते हैं – दूर कभी नहीं होते।

जब मनुष्य चलने के लिए एक पैर उठाता है तो दूसरा पैर हमेशा ही आराम की अवस्था में होता है; यानी एक क्रिया की ओर; दूसरा निष्क्रियता की अवस्था में रहता है। एक पैर की निष्क्रियता ही दूसरे पैर को क्रिया करने में मदद करती है।

लेकिन आन्तरिक चेतना के विकास की कमी में,

बहुधा लोग उल्टी चीजों को विरोधी मान लेते हैं।

इसलिए ज्यादातर लोगों के मन पर संस्कार के रूप में यही गहरी छाप पड़ी हुई है कि; उल्टी चीजों का अर्थ विरोधी होता है। कर्मकाण्ड और उपासनाकाण्ड की उपरोक्त व्याख्या हमें बताती है कि ये दोनों तरह की साधनायें, एक दूसरे की उल्टी यानी विलोम हैं – विरोधी नहीं।

कर्म के ज्ञान की साधना और कर्म के ज्ञान से परे की साधना – एक दूसरे की विलोम तो है – लेकिन विरोधी नहीं। पहली साधना के रास्ते पर प्रयास है और; दूसरी साधना 'प्रयासहीन' है।

हम देखते हैं कि; सिद्धान्त के स्तर पर भी ये दोनों साधनायें एक दूसरे के विलोम हैं; जीवन के क्रियात्मक (Practical) स्तर पर भी ये विलोम ही हैं। ये विलोम साधनाएं आन्तरिक चेतना के विकास की कमी के कारण, बहुत से लोगों को विरोधी दिखायी पड़ती हैं – ये विरोधी नहीं हैं। अब हम विस्तार से देखेंगे कि; ये विरोधी क्यों दिखाई पड़ती हैं? और विरोधी; कैसे नहीं हैं?

साधनाओं का ध्येय होता है – जीवन को संवारना।

यदि कर्मकाण्ड की साधना जीवन के जिन पहलुओं को संवारती हैं, उन पहलुओं को उपासनाकाण्ड की साधना संवारने की बजाय बिगाड़ने लगे; तभी हम इन्हें परस्पर विरोधी कहेंगे – लेकिन यह सत्य नहीं है। हमने तो ऊपर यह देखा कि; उपासना काण्ड की साधना तो उन पहलुओं को भी संवार देती है – जो कि कभी कभी कर्म के ज्ञान के रास्ते पर चलने से संवारने को रह जाती हैं; क्योंकि खण्ड की शक्ति अनन्त पहलुओं को; एक साथ संवार ही नहीं सकती।

उपासनाकाण्ड की साधना; होने की शक्ति प्रदान करती है।

जीवन में जो कुछ भी हो जाता है; उसे करने की आवश्यकता नहीं है। लेकिन यदि जीवन में कोई जरूरत है और, वह आवश्यकता अपने आप पूरी नहीं हो रही है; तो कुछ करके तो पूरा करना ही पड़ेगा। उदाहरण के लिए जैसे – एक धनवान का पुत्र बिना धन कमाये भी काम चला सकता है; लेकिन एक निर्धन के पुत्र को तो बचपन से ही कमाने की जरूरत महसूस होती है।

जीवन में कुछ होना और कुछ करना, हमेशा ही बना रहेगा।

कुछ होने की शक्ति तो सभी में है। जितना नहीं होता है – उतना कर्म के ज्ञान के आधार पर करके, पूरा कर लेते हैं।

करना; होने का पूरक है – विरोधी नहीं।

इसीलिए लेखक ने उपासनाकाण्ड के साधकों को हमेशा यह सलाह दी है कि; जीवन में छोड़ना या पकड़ना – कुछ भी नहीं है; केवल होने की शक्ति बढ़ाना है। ज्यों ज्यों 'होने की शक्ति' बढ़ेगी – कुछ अपने आप छूट जाएगा; और उसी अनुपात में करना, कम हो जायेगा।

ऊपर हमने देखा कि 'करने की शक्ति', 'होने की शक्ति' की पूरक है; और इसीलिए कर्म के ज्ञान के आधार पर की जाने वाली साधनाएं, उपासनाकाण्ड की साधनाओं की पूरक हैं। लेकिन क्रिया के क्षेत्र में, इन साधनाओं की प्रकृति – एक दूसरे के विलोम में है। आन्तरिक चेतना के विकास की कमी में, उल्टी चीजें हमेशा ही विरोधी दिखाई पड़ती हैं। यही कारण है कि; कर्म के ज्ञान के आधार पर साधना करने वाले 'प्रयासहीनता' के आधार पर साधना करने वालों के साथ जल्दी समझौता नहीं कर पाते। लेकिन जैसा कि हम पहले ही देख चुके हैं कि; 'उपासनाकाण्ड की साधना' तो; जीवन में उपलब्धि देने योग्य है। जीवन कैसा भी क्यों न हो; अपनी अच्छाइयों और खराबियों को मात्र ईश्वरीय शक्ति पर समर्पित कर देना है; या यों कहें कि धीरे धीरे अपने नित्य के कार्य में केवल 'समर्पण के क्षणों' को बढ़ाना है। कहते हैं कि समाज में जीवात्मा का सबसे ज्यादा पतन कलियुग में हुआ और; इस युग की अवस्था को संवारने के विषय में रामायण कहती है कि इस युग में तो –

'कलियुग केवल नाम अधारा।'

हम लोगों के बीच में जो साधना चल रही है; उसमें केवल आंख बन्द करके, अंधेरे कमरे में बैठकर, केवल कभी कभी ईश्वर का नाम लेकर, मन को छुट्टा (Relax) छोड़ देते हैं; दूसरे शब्दों में हमारे ध्यान की विधि व टेकनीक है – जिसमें ईश्वर के नाम को जीवन संवारने का आधार बताया जाता है। रामायण और गीता समाज के उच्चतम स्तर के ग्रन्थ हैं। भ० गीता (18.66) भी कहती है कि –

सर्व धर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।

अहं त्वा सर्व पापेभ्यो मोक्षयिष्यामि, मा शुचः॥

तत्मात सर्वेषु कालेषु माम् अनुस्मर युद्धय च?

पहले श्लोक का शाब्दिक अर्थ है कि; सभी प्रकार के धर्मों (धारण करने योग्य अच्छे कर्म), को भी छोड़कर केवल मेरे प्रति 'समर्पित' हो जाओ, मैं तुम्हें सभी पापों (दुःखों) से मुक्त कर दूंगा; शोक मत करो।

तो हम देखते हैं कि भ० गीता तो अच्छे कर्मों को भी छोड़कर 'आनन्द पर समर्पित' होने को कहती है और; हम ध्यान की विधि में भी यही करते हैं। केवल थोड़ी देर के लिए कर्म के ज्ञान के क्षेत्र को छोड़कर बैठ जाते हैं। इस प्रकार अच्छे और बुरे दोनों प्रकार के ही कर्म छूट जाते हैं। और धीरे धीरे 'आनन्द' उभरने लगता है; या यह कहें कि अच्छे बुरे कर्मों को छोड़कर, हम 'आनन्द' पर समर्पित हो जाते हैं, यही पहले श्लोक का आशय है। श्री कृष्ण भगवान कहते हैं कि यदि कोई मनुष्य ऐसा करेगा तो; वे उसे सारे पापों से मुक्त कर देंगे।

समाये हुए हमारे संस्कार ही पाप हैं।

ये पाप निकलने लगते हैं और ध्यान के समय निकलते हुए पाप ही; बे सिर पैर के विचारों के रूप में प्रतीत हाते हैं।

दूसरे श्लोक का शाब्दिक अर्थ यह है कि; ध्यान करो और; फिर कर्म में व्यस्त हो जाओ। कर्म में व्यस्त हो जाने को हम यह नहीं कह सकते कि; हम कर्मज्ञान के आधार पर कर्म में व्यस्त हो जायं – क्योंकि कर्मज्ञान तो किसी का कम है और; किसी का ज्यादा और; इसी आधार पर किसी का सही है और; किसी का गलत। कर्म में व्यस्त होने का अर्थ केवल यह है कि;

मन – जो भी कहे; उन क्रियाओं में व्यस्त हो जाओ।

ध्यान और स्वाभाविक क्रिया – यही हम लोगों की साधना की खास बात है। इस तरह से हम देखते हैं कि; हम साधकों के बीच जो साधना चल रही है, उच्चतम स्तर के ग्रन्थ भी उसी साधना का अनुमोदन करते हैं।

ऊपर हमने दो तरह की साधनाओं का उल्लेख किया है।

1. **कर्मज्ञान के आधार पर साधना और**
2. **कर्मज्ञान की अधीनता से स्वतन्त्र अवस्था में साधना।**

पहली प्रकार की साधना ही खण्ड की शक्तियों द्वारा की जाने वाली साधना है। अब समस्या यह है – (1) उपरोक्त दो तरह की साधनाओं में केवल एक ही तरह की साधना करें या (2) दोनों प्रकार की साधनाओं के मिश्रण की साधना अपनायें?

इन दोनों प्रकार की साधनाओं के करने में कौन सी समस्यायें उत्पन्न हो सकती हैं – अब इस पर हम विचार करेंगे।

हम जानते हैं कि हमारे जीवन में तप, सेवा और सुमिरन; तीनों होने चाहिएं या कोई; ऐसी साधना हो–जिसमें तीनों साधनायें पिरोयी हुई हों।

यदि हम कर्मकाण्ड की साधना की विधि की ओर ध्यान दें;

जिस रास्ते पर शरीर के सातों चक्र जागृत होते हैं और; कुण्डलिनी का जागरण होता है – इस रास्ते की कठिनाइयां यह हैं कि; यदि हम किसी पापी का नमक खाते हैं – तो हमारे मन में उसके पाप का प्रभाव आ जाता है। आध्यात्मिक इतिहास में ऐसे बहुत से उदाहरण मिलते हैं :–

1) कहा जाता है कि भीष्म ने स्वयं स्वीकार किया था कि; चूंकि उन्होंने दुर्योध्न का नमक खाया था – इसीलिए वे अधर्म का साथ देने के लिए विवश हो गए थे। यदि हम अपने शब्दों में यह कह दें कि; केवल पापी का नमक खाने से बुद्धि भ्रष्ट हो गयी थी – तो कोई गलत नहीं होगा।

2) ऐसे उदाहरणों के कारण ही–जैसा हमने रामायण के सीरियल में देखा कि; जिस समय वशिष्ठ जी राम लक्ष्मण, भरत और शत्रुघ्न को गुरुकुल में कुण्डलिनी जागरण की शिक्षा दे रहे थे – उन्होंने यह भी बताया था कि; यदि मनुष्य इस रास्ते पर किसी गुरु के संरक्षण में नहीं चलेगा – तो वह राम के बजाय, रावण भी बन सकता है। वह राम की जगह रावण न बनने पाये – केवल इसीलिए इस तरह के सुमिरन में तपस्या और सेवा जोड़ने की बात कही जाती है। कर्मकाण्ड के शिक्षक तो तपस्या की परिभाषा भी यही बताते हैं कि; अपना सुख छोड़कर दूसरे के दुख को हटाने का प्रयास करना – यही तप और सेवा का मिश्रण है। जब मनुष्य ऊपर बताई गई विधि द्वारा सुमिरन शक्ति को अपने सुख में प्रयोग करने के बजाय; दूसरे का दुख हटाने में प्रयोग करना शुरू कर देगा – तो वह रावण कैसे बनेगा? इसीलिए; तप–सेवा–सुमिरन, तीनों का साथ चलना अनिवार्य हो जाता है। लेकिन

जब हम कर्म के ज्ञान की अधीनता से स्वतन्त्र होकर केवल 'होने की शक्ति', पर अपने को समर्पित करते हैं (यही प्रकृति में पिरोया

हुआ प्रयासहीन रास्ता है, जिस पर चलकर मन अखण्ड की शक्ति को अपने में ले सकता है); तब मन में सत् चित् और आनन्द उभरता है।

इस 'आनन्द' में सुख की भूख को मिटाने की शक्ति है; और वह साधक के स्वभाव को अन्दर से बदलती है - और यही उसे सेवा करने को उत्साहित करती है। इसलिए नहीं कि, वह सेवा को अच्छा समझता है; बल्कि इसलिए कि उसकी सुख की भूख मिट गई है। यदि यह भूख पूर्ण से नहीं भी मिटी है - तो जिस अनुपात में मिट जाती है, कम से कम उसी अनुपात में तो सेवा होने ही लगेगी।

यह आनन्द मन को तपाने में भी सक्षम है।

तप करके निखरा हुआ मन, जब भी कर्म के क्षेत्र में आएगा - तब वह कर्म का क्षेत्र निखरे हुए मन के सम्पर्क में आकर तपेगा। इन बातों को समझने के बाद यह देखना कितना आसान हो जाता है कि;

अखण्ड की शक्ति द्वारा जो साधनायें होती हैं - उनमें तप-सेवा-सुमिरन वास्तव में पिरोया हुआ है; और शायद इसलिए गीता और रामायण भी इस रास्ते का अनुमोदन करती हैं।

हमने देखा कि यदि दोनों साधनाओं (रास्तों) को आपस में न मिलाएं; तो क्या होगा ?अब हम देखेंगे कि यदि हम इन दोनों रास्तों को मिलायें; तो कैसी समस्यायें उत्पन्न होंगी ? यदि कुछ साधक ऐसे मिलें; जो कि कर्म के ज्ञान के आधार पर साधना काफी लम्बे समय तक करते रहे हों - फिर भी उन्हें कुछ साधनाओं का सही रास्ता न मिला हो। उदाहरण के लिए यदि; हमें कुछ ऐसे साधक मिलें; जो किसी खास तपस्या या खास तरह की सेवा तो बहुत समय से कर रहे हों - लेकिन उन्हें शरीर के चक्रों का जागृत करने वाले सुमिरन का रास्ता न मिल सका हो और; यदि ये साधक कर्मकाण्ड के सुमिरन और उपासना काण्ड के सुमिरन में क्या अन्तर है - न जानते हों; और इनमें जो अन्तर है - उसके कारण किन व्यक्तियों को कौन सा सुमिरन का रास्ता पकड़ना चाहिए और कौन सा नहीं - ये भी न जानते हों; और किसी के द्वारा उपासना काण्ड के सुमिरन का रास्ता मिल जाये - तो वे

उपासना काण्ड के सुमिरन; कर्मकाण्ड की तपस्या; और सेवा को साथ साथ करने की गलती अवश्य करेंगे - क्योंकि उनके मन में ये है कि;

तप-सेवा-सुमिरन - तीनों होना चाहियें।

लेकिन उन्हें ये ज्ञान नहीं है कि; कर्मकाण्ड के सुमिरन में तप और सेवा पिरोया हुआ नहीं है; लेकिन उपासना काण्ड के सुमिरन में यह पिरोया है। कर्म के ज्ञान के आधार पर जो तपस्याएं और सेवाएं हैं - उनमें किसी खास किस्म की क्रियाओं को समझकर पकड़ना पड़ता है। दूसरे शब्दों में ऐसे साधक - उन क्रियाओं को करने के लिए बाध्य हो सकते हैं - जो क्रियायें करना उनका स्वभाव नहीं है।

उदाहरण के लिए; हो सकता है-उन्हें कुछ भोजन छोड़ना पड़े और कुछ ऐसा भोजन करना पड़े - जिसे खाने का उनका मन नहीं होता। उनके मन में तो यह संस्कार बस चुका है कि यदि इस रास्ते पर बताए हुए भोजन के अतिरिक्त वे कोई और भोजन करते हैं - तो उनकी साधना ही भंग हो जाएगी। इसलिए बिना स्वभाव के भी वे वैसा भोजन करने के लिए बाध्य हो जाते हैं।

लेकिन जैसा कि पहले गीता के श्लोक (18.66) में दर्शाया गया है - श्री कृष्ण जी तो कहते हैं कि; सारे पापों से मैं मुक्त कर दूंगा। लेकिन पाप क्या है - यह कृष्ण जी बताएंगे या साधक तय करेगा ?

उभरता हुआ आनन्द ही कृष्ण है।

उभरता हुआ आनन्द (कृष्ण) इस प्रकार नहीं बताता; जिस प्रकार एक मनुष्य दूसरे मनुष्य को बताता है।

उभरता हुआ आनन्द तो मनुष्य के स्वभाव को बदल कर; उसे बदले हुए स्वभाव के रास्ते पर चलने के लिए प्रेरित करता है; क्योंकि केवल स्वाभाविक रास्ते पर चलने से ही मन की संतुष्टि (सुख) मिलता है।

जब यह अवस्था आती है; तब साधक के मन में तरह-तरह की शंकाएं पैदा होती हैं कि, हमारी सही साधना क्यों छूट रही है ? कहीं कुछ गलत रास्ता तो नहीं अपना लिया गया है ?

इसी समय उसे किसी शिक्षक की जरूरत पड़ती है

जो इसकी उपरोक्त समस्याओं का समाधान कर सके।

कोई भी मनुष्य बुद्धि पर आधारित क्रियाओं के क्षेत्र में अपने अहं (Ego) से परे नहीं हो पाता और; कर्म के ज्ञान से परे के क्षेत्र में किसी का भी अहं काम नहीं करता। क्योंकि इस क्षेत्र में तो वह समर्पण की अवस्था में रहता है – चाहे यह अवस्था लम्बे समय की हो; या क्षणिक। अर्थात् जब भी मनुष्य कुछ पकड़ने की, या छोड़ने की कोशिश करता है – चाहे वह अच्छा हो या बुरा; उस समय वह अवश्य हो किसी क्रिया के क्षेत्र में अहं (Ego) से परे की अवस्था में नहीं होगा; और उस अवस्था में चूंकि उसका अहं वर्तमान है – अतः उसकी अहं की उस समय-जो भी अवस्था होगी, उसी के अनुसार कर्म फल होगा। इसीलिए गीता में यह दर्शाया गया है कि;

सही और गलत; दोनों से परे होकर-ईश्वर को समर्पित हो जाओ।

सही और गलत, दोनों छोड़ने के बाद कर्म के ज्ञान के आधार की साधना की सम्भावना ही कैसे रहेगी?

इसीलिए ऐसा लगता है कि; दोनों तरह की साधनाओं को साथ साथ लेकर चलना सम्भव नहीं होगा।

जब उपासना काण्ड की साधना का अभ्यास कुछ दिन नियमित हो जाता है, इसके कारण साधक के अन्दर ब्रह्म के तत्व के गुण उभरने लगते हैं; और इन गुणों के उभरने की वजह से साधक के स्वभाव में सात्विकता उभरती है – तो उसका भोजन भी स्वाभाविक रूप से सात्विक होने लगता है। कर्म के ज्ञान के रास्ते पर चलने वाले साधक के मन में, एक भ्रम यह उत्पन्न होता है कि; हम तो सात्विक भोजन पहले से ही खा रहे थे – तो शायद हमारी अवस्था पहले से ही ऊँची थी। कभी-कभी वह यह भी कहते हैं कि; जो सात्विक खाना हमें स्वभाव बदलने के बाद खाना ही है – वह हम अभी से खाना क्यों न शुरू कर दें? इस प्रश्न का उत्तर सभी साधकों को मिलना ही चाहिए। हर कुटुम्ब में कई प्राणी होते हैं। लेकिन किसी कुटुम्ब या किसी समुदाय में भी कोई दो व्यक्ति ऐसे नहीं मिलते – जिनके

स्वभाव की सारी बातें एक दूसरे से मिलती हों। स्वभाव की कुछ बातों का मिलना तो दूसरी बात है।

हर मनुष्य के स्वभाव का आधार उसके संस्कार हैं।

दो व्यक्तियों के संस्कार समान हो ही नहीं सकते। इसलिए दो व्यक्तियों के स्वभाव भी पूर्णतया समान नहीं होते।

उपासना काण्ड की साधना के रास्ते पर, ये संस्कार तेजी से निकलते हैं। ईश्वर का रास्ता संस्कारहीन होने का है। गलत या सही संस्कार बनाने का नहीं।

स्वाभाविक क्रिया के समय ये संस्कार आसानी से निकल जाते हैं। लेकिन कर्मज्ञान के रास्ते पर स्वाभाविक क्रिया की बजाय; समझ कर क्रिया की जाती है- जो संस्कारों को दबाने में मदद करती हैं; निकालती तो बिल्कुल नहीं। स्वभाव के आधार पर की गई क्रिया का अर्थ होता है – अवस्था के आधार पर क्रिया। यदि किसी की अवस्था ऐसी है कि वह खेत में हल चलाता है – तो उसे अपने वातावरण और क्रियाओं के अनुरूप भोजन चाहिए। यदि कोई वैज्ञानिक वातानुकूलित (Air Conditioned) कमरे में बैठकर विज्ञान की किसी खोज में लगा है – तो उसे कुछ दूसरे प्रकार के भोजन की आवश्यकता है।

अलग अलग प्राणियों की अवस्थाएं अलग अलग होती हैं।

इसलिए उनका भोजन भी अलग अलग तरह का होगा। भोजन का छोड़कर, कोई दूसरे उदाहरण लें। जिसकी अवस्था 10वीं कक्षा की किताब पढ़ने की है – उसे एम.ए. की किताब कैसे दी जा सकती है? क्रिया चाहे भोजन से संबंधित हो, चाहे पढ़ाई से; या जीवन के किसी और पहलू से – जीवन के सारे पहलुओं में क्रिया की अवस्था के अनुसार ही सुविधाएं होनी चाहिए। इसीलिए जिसका शरीर दूषित है, वह यदि स्वस्थ होने पर स्वच्छ शरीर वाले महात्माओं के भोजन की नकल करके – उनके जैसा भोजन करेगा, तो वह उसके अनुकूल नहीं होगा। भोजन के गुणों के आधार पर थोड़े दिनों के लिए किसी के शरीर पर कोई अच्छा प्रभाव लाना; यह दूसरी बात है – लेकिन स्थायी रूप से, शरीर की सारी खराबियां, जड़

से निकल जाने वाली बात तो केवल, अखण्ड की शक्ति द्वारा ही संभव है – खण्ड की शक्ति द्वारा नहीं। अखण्ड की शक्ति के माध्यम से जो साधना होती है – उसमें स्वभाव बदलने की प्रतीक्षा करते हैं। जो छूटता है – उसे छूटने देते हैं। जो नहीं छूटता – उसे रहने देते हैं।

वे अच्छाई और खराबी; या सही गलत की चिन्ता छोड़कर, केवल ईश्वर पर समर्पित हो जाते हैं।

खण्ड के माध्यम से जो साधनायें होती हैं – वे क्रिया-प्रति-क्रिया के क्षेत्र से परे नहीं हो पातीं। क्रिया प्रतिक्रिया का नियम क्रियाओं के क्षेत्र में ही चलता है। यदि हम अपने चारों ओर देखें – तो हमें ज्ञात होगा कि क्रियाओं का यह क्षेत्र तो अनन्त तक फैला है। हम दूर से आयी हुई आवाज को सुन लेते हैं; क्योंकि हमारे शरीर के कान में प्रकृति ने सुनने का यन्त्र प्रदान किया है। लेकिन शरीर के दूसरे भागों से वह आवाज नहीं टकराती है – यह कैसे कहा जा सकता है? बोलना; एक क्रिया है। यह क्रिया वायु मण्डल में कम्पन पैदा करती है। इस कम्पन के सहारे ही आवाज दूसरे मनुष्यों के कानों तक पहुंचती है। लेकिन वह कम्पन तो चारों ओर अग्रसर होता है; किसी एक दिशा में नहीं। जिस प्रकार ध्वनि का उदाहरण है – उसी तरह से कोई भी क्रिया; चाहे वह बोलने की हो, सुख या दु:ख देने की हो-सारी क्रियाएं वायुमण्डल में चारों ओर कम्पन पैदा करती हैं और; वे चारों ओर अग्रसर होकर अनन्त स्तरों से टकरा कर प्रतिक्रिया के रूप में वहीं वापस आती हैं- जहां से क्रिया प्रारम्भ हुई थी। इस बात को समझने के लिए हम कुछ उदाहरण लेते हैं।

1) बहुत सी कहानियों और चलचित्रों में हम देखते हैं कि; किसी के जीवन में कोई दुर्घटना हो जाती है। जैसे किसी के घर में डाका पड़ा; और ऐसा करते समय किसी के द्वारा उसके माता या पिता की हत्या कर दी गई। मान लें यह कहानी की शुरूआत हो। कहानी या चलचित्र में बहुत वर्षों तक की बात दिखा दी जाती है; और ऐसा दिखाते हैं कि माता पिता की हत्या देखने वाला बच्चा धीरे धीरे बड़ा हो जाता है। लेकिन उसके मन पर उस घटना की प्रतिक्रिया धुंधली नहीं होती और; बदले की भावना से प्रेरित धीरे धीरे वह अपने माता पिता के हत्यारे को 30-40

वर्षों बाद भी ढूंढ़ने में सफल हो जाता है – और अपना बदला ले लेता है। इस उदाहरण में क्रिया के समय मृत्यु तो किसी दूसरे की हुई – लेकिन प्रतिक्रिया के रूप में बदला किसी दूसरे द्वारा लिया गया; और यह प्रतिक्रिया-जिस हत्यारे ने क्रिया की थी – वहीं वापस आ गयी।

2. उपरोक्त उदाहरण की तरह अनेक उदाहरण ढूंढ़े जा सकते हैं। जब भी किसी कुटुम्ब में कोई बच्चा होता है और; धीरे धीरे बड़ा होता है-तो लोग कहने लगते हैं कि उसका कोई स्वभाव कुटुम्ब के किसी खास व्यक्ति से मिलता है; और दूसरा स्वभाव कुटुम्ब के किसी दूसरे व्यक्ति के स्वभाव से मिलता है। उसके शरीर का कोई अंग किसी तीसरे व्यक्ति से; और कोई दूसरा अंग किसी चौथे व्यक्ति के अंग से मिलता जुलता है।

जीवन के ये उदाहरण तो हमें यह बताते हैं कि क्रियाओं की प्रतिक्रियाएं तो; मरने के बाद भी पीछा नहीं छोड़तीं।

3. महाभारत में धृतराष्ट्र ने अपने जीवन के दु:खों की ओर संकेत करते हुए केवल यह जानने का प्रयत्न किया है कि; मेरे दु:ख का कारण कौन सा पाप है? क्योंकि इन्हें अपने पिछले 100 जन्मों की याद थी, जिनमें उन्होंने कोई ऐसा पाप नहीं किया था – जिसका फल इस जन्म के दु:ख के रूप में मिलता तो; उन्हें बताया गया कि उन 100 जनमों के पहले के जन्म के पापों की प्रतिक्रिया स्वरूप ही उन्हें इस जन्म में वह दु:ख प्राप्त हुआ है।

ये उदाहरण हमें बताते हैं कि जीवन में की गई क्रियाओं की प्रतिक्रियाओं से हमें अनन्त काल तक छुटकारा नहीं मिलता।

इसका कारण – जैसा कि पहले ही बताया गया है – यही है कि अखण्ड की दुनियां में खण्ड (सीमा) की कोई बात होती ही नहीं। इस क्रिया प्रतिक्रिया का जगत भी तो; अखण्ड द्वारा ही रचित है – इसीलिए इस जगत में जो क्रिया प्रतिक्रिया का नियम है – उसके रहते, खण्ड की शक्तियों के माध्यम से जीवन में सुख प्राप्त करना; कठिन ही नहीं बल्कि असम्भव है – यह समझना कितना आसान है?

कुछ साधक इस क्रिया प्रतिक्रिया के नियम के आधार पर यह समझते हैं कि; छोटे छोटे सुख देने से इतना बड़ा सुख आ जाएगा कि; जीवन में दुःख रहेगा ही नहीं।

सीमित क्षेत्र के सुख की प्रतिक्रिया, सुख के रूप में लौटेगी और अनुभव भी होगी; लेकिन हम पहले जो दुःख देने वाली क्रियाएं कर चुके हैं – उनकी दुःख देने वाली प्रतिक्रियाएं लौटती हैं, तो उन्हें जीवन से हटाना या उनका दुःखद अनुभव समाप्त करना; खण्ड की शक्ति के बाहर की बात है। कुछ साधक यह भी प्रश्न करते हैं कि; जीवन के उतार चढ़ाव कब खत्म होंगे? सब शिक्षकों को इसका उत्तर नहीं मिलता; और वे कह देते हैं कि उतार चढ़ाव तो आते ही रहेंगे। इस उतार चढ़ाव के समय हम अपने को विचलित न होने देने का मार्ग ढूंढें। कर्म के ज्ञान के आधार की साधनाओं के रास्ते पर मन कुछ कम विचलित हो – ऐसा तो हो जाता है; लेकिन बिल्कुल विचलित न हो – ऐसा केवल सिद्धान्त में ही रह गया है। अनुभव भी हो; ऐसा देखने को नहीं मिलता। लेकिन कुछ महात्माओं के जीवन में; जिनका जीवन कर्म के ज्ञान की अधीनता से स्वतन्त्र अवस्था द्वारा संवारा गया है–यह उतार चढ़ाव नहीं दिखाई देता। यदि दिखाई भी पड़ता है – तो वह केवल नीचे स्तर की चेतनाओं को ही। उच्च स्तर की चेतनाओं को; वह नहीं दिखायी देता। ऐसा इसलिए है–क्योंकि; यह जीव अनन्त का है और केवल अखण्ड की शक्ति द्वारा संवारा जा सकता है – खण्ड की शक्ति द्वारा नहीं संवारा जा सकता।

मनुष्य कोई साधना करे या कोई क्रिया, ध्येय यह देखने का होना चाहिए कि उसका जीवन खण्ड की शक्तियों पर आधारित है – या अखण्ड की शक्तियों पर। उसकी साधना खण्ड के माध्यम से हो रही है या अखण्ड के माध्यम से; और केवल इसी आधार पर उसे अपनी जीवन की क्रियाओं के प्रति क्रियाओं और फल की आशा करनी चाहिए।

जब हमारा जीवन, अखण्ड की शक्ति के आधार पर चलता है; तब हमारे मन में ज्यों ज्यों अखण्ड की शक्ति पिरोती जाती है – त्यों त्यों हमारा वातावरण भी शुद्ध होता जाता है। वातावरण की यह शुद्धता – उस ढाल का काम करती है और

हमारी रक्षा करती है – जो हमारी पिछली क्रियाओं की (जिनका हमें ज्ञान भी नहीं है), दुःखदायी प्रतिक्रियाओं के रूप में हमारे पास लौटती हैं।

अनन्त स्तरों से लौटने वाली दुःखदायी प्रतिक्रियाओं से रक्षा करने की शक्ति केवल; अखण्ड द्वारा बनाई ढाल के द्वारा ही सम्भव है।

फिर भी कुछ प्रतिक्रियाएं, ढाल भी न रोक पाये – इसकी भी संभावना तो रहेगी ही; लेकिन उनका प्रभाव मन पर नहीं पड़ेगा – क्योंकि मन में पिरोयी हुई भगवान की शक्ति भी ढाल का काम करेगी; और इन दुःखदायी प्रतिक्रियाओं का प्रभाव हमारे मन पर वैसा ही पड़ेगा – जैसे पानी पर खिंची लकीर का होता है।

सुखी जीवन के सिद्धान्त

यह सृष्टि तीन भागों में विभाजित है - क्रियाओं का क्षेत्र, भावों का क्षेत्र और भावातीत क्षेत्र। भावातीत क्षेत्र (Transcendental Field) ईश्वरीय शक्ति का समुद्र है। क्रियाओं और भावों के क्षेत्र की समस्त शक्तियां; केवल भावातीत क्षेत्र की शक्ति से ही उत्पन्न होती हैं। जिस तरह क्रियाओं के क्षेत्र में शून्य की ओर वायु का प्रवाह, वायु का स्वभाव है - बिल्कुल इसी तरह भावातीत से भावों और; क्रियाओं के क्षेत्र में भावातीत क्षेत्र की शक्ति का प्रगट होना - भावातीत क्षेत्र की शक्ति का स्वभाव है। भावातीत क्षेत्र की शक्ति के लिए; प्रवाह शब्द का प्रयोग न करके 'प्रगट' शब्द का इस्तेमाल - केवल इसलिए किया गया है; क्योंकि भावातीत क्षेत्र की शक्ति गुणातीत होने के कारण - प्रवाह के गुण से बहुत दूर रहती है। इस शक्ति में गुण तो केवल; तब उत्पन्न होते हैं - जब यह 84 लाख जड़ों के माध्यम से; गुणों और अनुभवों के क्षेत्र में प्रगट हो जाती है। जैसा माध्यम होता है - वैसे ही गुण और रूप प्रगट होने की बात हो जाती है। फिर भी

इन 84 लाख जड़ों के माध्यम से प्रगट चेतनाओं को तीन तरह की चेतनाओं में विभाजित किया जा सकता है - निर्जीव कही जाने वाली वस्तुओं की चेतना, विभिन्न प्रकार की शक्तियों की चेतना और; प्राणियों की चेतना।

जड़ों का विभाजन दो स्तर में करते हैं - सूक्ष्म जड़ और स्थूल जड़।

सूक्ष्म जड़ों से अन्दर की शक्ति बाहर की शक्तियों के रूप में प्रगट होती है और; स्थूल जड़ों के माध्यम से प्रगट हुई शक्तियां - निर्जीव वस्तुएं कहलाती हैं। जब अन्दर की शक्ति एक साथ दोनों माध्यमों से प्रगट होती है - तब अन्दर की शक्ति प्राणियों का रूप धारण करती है।

इसीलिए हर प्राणी में सूक्ष्म और स्थूल, दोनों जड़ें हैं, जैसे - मन और शरीर।

जब यह सूक्ष्म जड़ें, स्थूल जड़ों से अलग हो जाती हैं - तब समाज कहता है कि; प्राणी की मृत्यु हो गई। जब तक प्राणी के माध्यम से शक्ति बाहर और अन्दर की

क्रियाओं के क्षेत्र में एक साथ, दोनों प्रकार की जड़ों के माध्यम से प्रकट होती है - तब तक प्राणी जीवित कहलाता है।

ऊपर के तर्क से यह समझना बहुत आसान हो जाता है कि शक्ति केवल भावातीत क्षेत्र में है। यह शक्ति क्रियाओं के क्षेत्र में विभिन्न रूपों में प्रकट होती है और; सत्य तो यह है कि जिन्हें समाज शक्ति नहीं कहता - वे भी केवल शक्ति का ही रूप हैं।

हम कह सकते हैं कि पूरी सृष्टि केवल शक्ति का एक खेल है।

वास्तव में शक्ति के अलावा; कहीं कुछ है ही नहीं। इसका कारण यह है कि; शक्ति का स्रोत तो केवल चेतना है - जो कि जब ब्रह्म का तत्व अनुभव के क्षेत्र में जड़ों के माध्यम से प्रगट होता है - तब वह तरह तरह की चैतन्यता के रूप में अनुभव होता है।

बाहर की दुनिया में तरह तरह की शक्तियां कहां से आईं? यह हम लोगों ने ऊपर देखा। लेकिन यह हमारे नित्य जीवन का अनुभव है कि; अलग अलग प्राणियों की अपनी अलग अलग जरूरतें हैं। इन जरूरतों को पूरा करने के लिए प्राणी जो कुछ भी करता है - यही उसका जीवन है। अपने जीवन को सुखमय बनाने के लिए, वह वायुमण्डल की ऊपर बताई हुई दूसरी शक्तियों को अपनाने लगता है। उदाहरण के लिए जैसे; मनुष्य को बोझा उठाने की ताकत अपने अन्दर पैदा करने के लिए, खाने की कुछ विशेष वस्तुओं का जीवन में प्रयोग करना पड़ता है। यह बिल्कुल स्पष्ट है कि -

शक्ति तो सृष्टि के कण कण में है।

भगवान की शक्ति अनन्त रूप में प्रगट हुई है। कुछ तो प्राणी के अन्दर है - जैसे उसकी सोचने या करने की ताकत। लेकिन कुछ शक्तियां दूसरी वस्तुओं में हैं - जैसे खाने से शरीर में बोझा उठाने की ताकत पैदा करना। जीवन में तरह तरह के सामान जुटाने पड़ते हैं और; इन चीजों को जुटाना भी - यदि हम बारीक स्तर से देखें - तो केवल दूसरी तरह की शक्तियों के सम्पर्क में आना ही होता है। दूसरे शब्दों में कहने का तात्पर्य यह है कि; प्राणी को अपने जरूरतों को पूरी करने के

लिए सृष्टि की दूसरी शक्तियों में अपना सम्पर्क बनाये रखना पड़ता है। लेकिन हम यह भी देखते हैं कि; हर मन के पास एक स्वतन्त्र इच्छा (Free will) है- जिसके आधार पर वह अपने जीवन में किसी शक्ति से सम्पर्क बनाए रखता है और; किसी से तोड़ देता है। जब प्राणी; अपने जीवन में कोई शक्ति बढ़ाने के लिए इस स्वतन्त्र इच्छा का इस्तेमाल कर्म ज्ञान से करता है – तो जो भी शक्ति उसके अन्दर बढ़ती है; उसे 'करने की शक्ति' कहते हैं। जैसे जो खाना बनाएगा तो, खाना बनाने की शक्ति उसके पास होगी।

यदि वह स्कूल कालेज में पढ़ेगा; तो उसके अन्दर पढ़ाने की शक्ति आ जाएगी – अन्यथा नहीं आयेगी। वह शक्ति; जो कुछ कर्म के ज्ञान के आधार पर करने, या न करने से आती है – अन्यथा नहीं आती; ऐसी शक्तियों को कर्म काण्ड की शक्ति कहते हैं।

कर्मकाण्ड की अनन्त शक्तियां हैं।

इन शक्तियों की कोई सीमा नहीं है। महर्षि व्यास द्वारा लिखे वेदों में; कर्मकाण्ड की जो व्याख्या मिलती है – वह कोई छोटी चीज नहीं है।

जैसा कि सन्धि विच्छेद बताता है – कर्म + काण्ड;

अर्थात् कर्मों का अध्याय (Chapter)

कर्मों के अध्याय में हर तरह की क्रियाओं का ज्ञान है। इस ज्ञान से पूर्ण होकर कर्म करना या न करना; कर्म + काण्ड = कर्मकांड है।

बिना ज्ञान के कर्म करने को कर्मकाण्ड नहीं कहते। बिना ज्ञान के जो कर्म किए जाते हैं – उन्हें अन्धविश्वासी कर्म (Dogma) कहते हैं। जो कर्म, कर्म ज्ञान से स्वतन्त्र अवस्था में होते हैं – वे उपासना काण्ड की साधना से सम्बन्ध रखते हैं।

कुछ साधकों को गलतफहमी यह है कि, करने की शक्ति बाहर की शक्ति को कहते हैं। लेकिन हम नित्य अपने जीवन में देखते हैं कि; जब हम काम करते करते थक जाते हैं – उस समय करने की शक्ति गायब हो जाती है और; यह करने की शक्ति केवल आराम (निद्रा) के द्वारा ही वापस आती है।

आराम के समय हम यह शक्ति बाहर से नहीं लेते।

इसलिए कितना स्पष्ट है कि करने की शक्ति तो; अन्दर ही है। प्रश्न यह उठता है कि; हम बाहर की शक्ति किसे कहेंगे? उत्तर यह है कि; जब कोई प्राणी अपने जीवन की जरूरतों को पूरा करने के लिए किसी भी दूसरी चेतना की शक्ति को अपने जीवन की शक्ति में मिलाकर – अपनी शक्ति को बढ़ाने की कोशिश करता है – इसे हम कहते हैं कि हमने बाहर की शक्ति ली। इन बाहर की शक्तियों में कुछ स्थूल स्तर की शक्तियां हैं – जैसे खाने की शक्ति – चाहे खाना हो या दवाई। शक्ति तो हम हवा, पानी और मिट्टी से भी लेते हैं। ये भी बाहर की दूसरी चेतनाएं ही हैं। आन्तरिक चेतना के स्तर से जीवन को अनुभव करने की शक्ति कम हो जाने के कारण, लोगों के अन्दर तरह तरह के संशय उत्पन्न होते रहते हैं। कुछ लोगों का विचार है कि; करने से अन्दर की शक्ति नहीं बढ़ती। लेकिन हम अपने जीवन में देखते हैं कि

तरह तरह के अभ्यास से – अपने अन्दर की ही शक्ति बढ़ाते हैं।

खिलाड़ी के खेल की शक्ति उसके अन्दर ही तो होती है और; वह करने की ही शक्ति, और अभ्यास द्वारा बढ़ती है। यदि वह खेलने का अभ्यास नहीं करेगा – तो यह शक्ति कम हो जाएगी। अभ्यास करे या न करे; यह उसकी स्वतन्त्र इच्छा पर निर्भर करेगा। तो सिद्धान्त यह निकला कि

करने की ताकत तो केवल वहां है – जहां स्वतन्त्र इच्छा, बुद्धि का प्रयोग करती है। इसका इससे कोई सम्बन्ध नहीं है कि, करने से अन्दर की शक्ति बढ़ रही है या बाहर की।

करने की शक्ति की व्याख्या ऊपर की गई। लेख को संक्षिप्त करने के उद्देश्य से बहुत से उदाहरण नहीं दिए गए। लेकिन हमें अनन्त उदाहरण मिल सकते हैं। महत्वपूर्ण बात तो यह है कि, हर प्राणी का जीवन दो तरह की शक्तियों से प्रभावित है –

1) 'करने की शक्ति', जिसमें कि स्वतन्त्र इच्छा का समावेश (Involvement) अनिवार्य है।

2) 'होनी की शक्ति', जिससे कि स्वतन्त्र इच्छा का प्रयोग, कभी होता ही नहीं। यह दूसरी शक्ति ही ईश्वरीय शक्ति कहलाती है।

'करने की शक्ति', व्यक्तिगत होती है और, हमेशा सीमाओं से बंधी होती है। जीवन को समस्त समस्याओं से परे ले जाने की शक्ति इसमें नहीं होती। होने की शक्ति या ईश्वरीय शक्ति; असीम की शक्ति है। केवल इसीलिए जीवन की सारी समस्याओं से परे ले जाने की शक्ति, इसमें होती है। अब हम विस्तार से इस शक्ति को देखेंगे :-

वृक्ष भी एक प्राणी है। वैज्ञानिक यह भी कहते हैं कि; वृक्षों में भी अनुभव की शक्ति है।

अनुभव की शक्ति, केवल मन में होती है।

दूसरे शब्दों में वैज्ञानिक यह कहता है कि पेड़ों के पास भी एक तरह का मन है। लेकिन एक साधारण मनुष्य के पास पेड़ों का जो ज्ञान है – केवल उसके आधार पर हम यह कह सकते हैं कि; पेड़ के मन के पास अपनी कोई स्वतन्त्र इच्छा की शक्ति नहीं है। ऊपर के तर्क से कितना स्पष्ट हो जाता है कि; केवल पेड़ एक ऐसा प्राणी है – जिसमें कि 'करने की शक्ति' बिल्कुल नहीं है। यह केवल 'होनी की शक्ति' के सहारे जिन्दा रहता है। इसलिए केवल पेड़ के ज्ञान के आधार पर हम 'होनी की शक्ति' का अध्ययन कर सकते हैं।

सत्य तो यह है कि; समस्त प्राणी वृक्ष रूपी ही होते हैं।

पेड़ का आधार उसकी जड़ होता है। यह जड़ें – जमीन, खाद, पानी और धूप से अपना भोजन लेती हैं; जिसके सहारे पेड़ धीरे धीरे बीज से फल तक जाता है। बीज से फल तक जाने के रास्ते में – तना, डाली, पत्ती, फूल; सभी होते हैं। पेड़ के भोजन से पेड़ की जड़ें, जीवनी शक्ति – पेड़ के हर भाग को देती हैं।

इस जीवनी शक्ति में होने की शक्ति है और उस होने की शक्ति के आधार पर; बीज से फल तक का रास्ता अपने आप बन जाता है।

कहने का अर्थ यह है कि किसी पेड़ का तना मोटा होता है और किसी का पतला। हर पेड़ के पत्ते, डाली, फूल, फल; अलग अलग तरह के होते हैं – जिन्हें देखते ही

हम उन्हें पहचान लेते हैं। लेकिन एक बात बहुत ही महत्वपूर्ण है कि; अलग अलग पेड़ों में फल लगने का समय भी अलग अलग हो जाता है। जीवनी शक्ति के स्तर की खोज के माध्यम से ही हम वृक्षों के जीवन में बदलाव ला सकते हैं। लेकिन कौन सा पेड़ कितनी देर में फल देगा ?

समय पर पूर्ण रूप से (Control); जीवनी शक्ति का ही है।

अब ऊपर की बताई हुई पेड़ की तुलना, हम मानव जीवन से करेंगे और यह देखेंगे कि; मनुष्य का जीवन किस स्तर तक 'होने की शक्ति' द्वारा प्रभावित हो सकता है?

हर पेड़ का आधार उसकी जड़ें ही हैं। यदि हम अपने जीवन की ओर देखें तो हमें प्रतीत होगा कि हमारे जीवन का आधार; हमारा मन ही है।

इसलिए हम मन की तुलना पेड़ की जड़ों से करेंगे।

हर शरीर में एक जीवात्मा है; जो कि ब्रह्म के तत्व का भण्डार है।

ब्रह्म के तत्व में ही हमारे जीवन की जीवनी शक्ति है।

हमारा मन जीवात्मा के क्षेत्र से इस शक्ति को लेता है।

दूसरे शब्दों में जीवात्मा के क्षेत्र की तुलना पृथ्वी से हो जाती है; और जीवात्मा के तत्व की तुलना उस भोजन से होती है – जो मनुष्य के जीवन को संवारता है। हमारे मन में तरह तरह की इच्छाएं पैदा होती रहती हैं। इनमें बहुत सी इच्छाएं पूरी हो जाती हैं और बहुत सी नहीं होतीं। जिस प्रकार से पेड़ के जिस बीज को जड़ें रस नहीं दे पातीं, वे बीज फल तक नहीं जाते;

इसी तरह जिस मन को जीवात्मा के क्षेत्र से इतनी शक्ति नहीं मिलती कि, मन सभी इच्छाओं को अन्दर की शक्ति काफी दे सके- वे इच्छाएं पूरी नहीं होतीं।

मन के अन्दर से काफी शक्ति ले सकें; जिससे कि ज्यादा से ज्यादा इच्छाएं पूरी हो जाएं।

इसीलिए हम ध्यान का अभ्यास (Meditation) करते हैं।

जिस तरह केवल पेड़ का रस ही यह तय करता है कि; बीज से फल तक जाने का रास्ता क्या होगा? किसी पेड़ में इस रास्ते पर कांटे भी पाये जाते हैं। कुछ पेड़ों में तने केवल मोटी पत्तियों के रूप में पाए जाते हैं। इन रास्तों पर अधिकार (Control) तो केवल पेड़ के रस का ही है। लेकिन रास्ता चाहे जैसा हो - कहते हैं कि बिना फल के पेड़ होता ही नहीं।

बिल्कुल इसी तरह जो नियमित ध्यान का अभ्यास कर रहा है और; जो केवल सच्चिदानन्द शक्ति में विश्वास पैदा करने में समर्थ हो जाता है - केवल वही इसकी चिन्ता नहीं करता कि; ब्रह्म के तत्व की शक्ति उसकी किस इच्छा को किस रास्ते से पूरी करेगी?

जहां पर यह चिन्ता नहीं है - दूसरे शब्दों में रास्ते के विषय पर जिसे उत्तेजना नहीं है; केवल उसी के जीवन में धीरे धीरे 'करने की शक्ति' छूटने लगती है और; होने की शक्ति के आधार पर' जीवन चलने लगता है। जीवन तो केवल वही है - जहां शरीर जीवात्मा से अलग नहीं हुआ है। इसलिए हम क्यों नहीं कह सकते कि; जीवन तो केवल आत्मा की शक्ति का है और, यही इस बात को प्रमाणित करता है कि - जीवन को पूर्ण रूप से संवारने की शक्ति को केवल आत्मिक शक्ति में है। लेकिन जब तक हमारे अन्दर यह शक्ति जिस अनुपात में कम है; केवल उस अनुपात में हम अपनी कमियों को 'करने की शक्ति' द्वारा पूरी करें। दूसरे शब्दों में 'करने की शक्ति' का तो; 'होने की शक्ति' की केवल पूरक है।

'होने की शक्ति', 'करने की शक्ति' की पूरक नहीं है।

कहने का अर्थ है कि हमें अपने जीवन को संवारने के लिए दोनों तरह की शक्तियों का प्रयोग करना चाहिए। लेकिन महत्व 'होने की शक्ति' को बढ़ने का है। धीरे धीरे 'करने की शक्ति' अपने आप कम होगी। इसके विपरीत सोचना गलत होगा और; **यही सुखी जीवन का सिद्धान्त है।**

गुरु और ब्रह्मज्ञान

गुरु शब्द का शाब्दिक अर्थ है - जीवन को अंधेरे से निकालने वाला और; इसके लिए सबसे प्रसिद्ध श्लोक है :-

गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णु गुरुर्देवो महेश्वरः।
गुरु साक्षात् परब्रह्म तस्मै श्री गुरवेः नमः॥

उपरोक्त श्लोक की पहली पंक्ति के दो अर्थ निकलते हैं - एक अर्थ यह है कि गुरु ही ब्रह्मा के समान है, विष्णु के समान है और, शंकर के समान है। समाज में यही अर्थ ज्यादा प्रचलित हो गया है।

इसका दूसरा अर्थ यह निकलता है कि ब्रह्मा ही गुरु हैं, विष्णु ही गुरु हैं और; शंकर ही गुरु हैं।

अब हमें यह देखना हैं कि उक्त तीनों अर्थों में; वास्तविक रूप से कौन सा अर्थ सही है और कौन सा गलत?

आज के समाज में बहुत से ऐसे लोग मिल जाएंगे - जिन्हें यह समझ में नहीं आता कि; वे किसे अपना गुरु मानें? कहने का अर्थ यह है कि; यदि हम किसी अयोग्य (गलत) व्यक्ति को गुरु मान लें - तो क्या वह ब्रह्मा, विष्णु और शंकर के तुल्य हो जाएगा? यह उदाहरण हमें बताता है कि, पहला अर्थ तो सही नहीं हो सकता। इसलिए शायद दूसरा अर्थ ही ठीक है कि; केवल ब्रह्मा, विष्णु और महेश ही गुरु हैं। उपरोक्त श्लोक की दूसरी पंक्ति के भी दो अर्थ निकलते हैं :-

एक तो यह-जो समाज में ज्यादा प्रचलित है कि; गुरु साक्षात् परब्रह्म है। लेकिन सामान्य बुद्धि वाला भी इसको सही नहीं मान सकता। दूसरा अर्थ यह निकलता है कि; साक्षात् ब्रह्म ही गुरु है और; यही ठीक लगता है। रामायण की चौपाई भी प्रसिद्ध है:-

'गुरु बिनु भव निधि तरई न कोई?
जो विरंचि संकर सम होई॥'

जो यह बताती है कि; बिना गुरु के सही ज्ञान नहीं हो सकता। उपरोक्त चौपाई के भी दो अर्थ निकलते हैं :-

एक अर्थ तो यह है कि; ब्रह्मा और शंकर जिनकी शक्ति वायुमण्डल में पिरोयी हुई है - गुरु है। अर्थात् जिनकी चेतना; वायुमण्डल में इस शक्ति को प्राप्त नहीं कर सकती - वे इस संसार को पार नहीं कर सकते। लेकिन लेखक द्वारा बताया गया यह अर्थ, समाज में ज्यादा प्रचलित नहीं है। समाज तो उपरोक्त चौपाई के इस अर्थ को मान्यता देता है कि; जब तक किसी दो हाथ पैर वाले व्यक्ति को गुरु नहीं बनाओगे - तब तक ब्रह्मा, विष्णु और शंकर की स्थिति पाकर भी, संसार सागर को पार नहीं कर सकोगे। इसी अर्थ को लेकर यह पंक्ति भी प्रचलित हो गई है कि;

'निगुरा की मुक्ति नहीं होती।'

अधिकांश व्यक्ति तो जीवन को अंधेरे से निकालकर प्रकाश में लाने वाले ज्ञान और; तरह तरह के विषयों के ज्ञान के मौलिक अन्तर को भी समझने की क्षमता नहीं रखते और; ऐसे व्यक्ति उपरोक्त चौपाई के आधार पर विषयों का ज्ञान देने वाले को गुरु मान लेते हैं। अब हम इन संशय भरी बातों को विश्लेषण के आधार पर समझेंगे कि;

सत्य क्या है?

जैसा हमने ऊपर देखा कि सत्य तो यही है कि, 'एक मात्र ब्रह्म ही गुरु है'। 'ब्रह्मा विष्णु और शंकर की शक्ति', ब्रह्म तत्व में ही है और;

इस ब्रह्म तत्व का भण्डार ही जीवात्मा कहलाता है।
सभी के शरीर में जीवात्मा विराजमान है।

हम पहले भी कई लेखों में पढ़ चुके हैं कि; जीवात्मा से ब्रह्म की शक्ति (सत्, चित्त और आनन्द) संस्कारों से छनकर - मन को ठीक उसी प्रकार मिलती है - जिस प्रकार सूर्य की रोशनी और गर्मी बादलों से छनकर पृथ्वी को मिलती है।

यदि ब्रह्मा गुरु हैं - तो एक मात्र ब्रह्म के तत्व ही; गुरु के तत्व हो सकते हैं।

यद्यपि आन्तरिक चेतना के विकास की कमी में; बहुत से साधकगण गुरु तत्व को गुरु और शिष्य के बीच जो भाव होते हैं - उनमें ढूंढ़ने लग गये हैं। लेकिन जिस प्रकार से यदि कोई कपड़ा है तो; कपड़े का तत्व (धागा), सूत का है, या रेशम का, या पॉलिस्टर का, या टेरीकाट का; बिल्कुल इसी प्रकार से गुरु तत्व का अर्थ भी हम निकालेंगे।

यदि ब्रह्मा गुरु हैं - तो ब्रह्म के तत्व ही गुरु के तत्व होंगे।

जब तक प्राण है; तब तक किसी-न-किसी मात्रा में, मन को गुरु तत्व मिलता ही रहता है - ऐसा प्रकृति का नियम है। लेकिन समय बीतने के साथ साथ यदि; यह गुरु तत्व बढ़ता ही चला जाय (जैसा कि ध्यान का अभ्यास करने वालों के जीवन में देखा जाता है);

चूंकि गुरु तत्व में ही ज्ञान है - इसलिए ऐसे व्यक्तियों में ज्ञान, बुद्धि की कमी नहीं हो सकती।

लेकिन जिन व्यक्तियों को अपने मन में गुरु तत्व को बढ़ाने का रास्ता नहीं मिलता; उनके जीवन में ज्ञान की वृद्धि होने के बजाय, ज्ञान की कमी होने लग जाती है। यद्यपि; ऐसे व्यक्तियों की बुद्धि का विकास अलग अलग विषयों के क्षेत्र में अनन्त स्तर तक सम्भव है। आज के युग में विज्ञान का विकास अपने क्षेत्र में इतना आगे बढ़ चुका है कि; यह सोचना भी मुश्किल हो गया है कि - इसका अन्त कहां होगा? कारण केवल यह है कि; अनन्त का अन्त, सोचना तो हमेशा असम्भव होता है। हम जानते हैं कि; विषयों का ज्ञान भी अनन्त स्तरों का होता है।

लेकिन विषयों के ज्ञान की शिक्षा देने वाले शिक्षक कहे जाते हैं। उन्हें गुरु की संज्ञा नहीं दी जाती। क्योंकि ऐसे शिक्षकों के मन में गुरु तत्व की कमी होती है।

मन में गुरु तत्व बढ़ाने की शिक्षा को ही; आध्यात्मिक शिक्षा कहते हैं।

भौतिक शिक्षा वह शिक्षा है - जो भौतिक क्षेत्र का ज्ञान देती है - चाहे वह प्रयोगात्मक (Practical) हो, या अनुभव के स्तर का ज्ञान हो; या (Theoretical) स्तर का। यदि ज्ञान; सत्-चित्-आनन्द का न होकर; या यों कहें कि ब्रह्म ज्ञान का न होकर किसी

विषय का ज्ञान है - चाहे विषय जीवन से सम्बन्धित क्यों न हो? ज्ञान देने वाला शिक्षक होता है - गुरु नहीं होता।

लेखक का लेख - 'आध्यात्मिक शिक्षा', साधक गण ध्यान से पढ़ें - तो उन्हें पता चलेगा कि; आध्यात्मिक शिक्षा - जो कि मन में गुरु तत्व के बढ़ने से ही मिलती है; ब्रह्म ज्ञान की शिक्षा है।

हर मनुष्य को किसी-न-किसी क्षेत्र का

कम या ज्यादा ज्ञान अवश्य है।

हम समाज की ओर देखें, बच्चा जैसे ही बड़ा होता है; माता पिता -दोनों बहुत सोच समझकर बच्चे के जीवन को किसी खास क्षेत्र की शिक्षा की ओर अग्रसर करते हैं। हम किसी-न-किसी क्षेत्र का; तब तक ज्ञान ढूंढ़ते ही रहते हैं - जब तक हमें ब्रह्म का ज्ञान नहीं होता।

एक मात्र ब्रह्म ज्ञान ही वह ज्ञान है जिसके पाने के बाद - किसी भी अन्य प्रकार के ज्ञान की आवश्यकता नहीं रह जाती है।

तभी दूसरे क्षेत्रों का ज्ञान ढूंढ़ना बन्द हो जाता है - ऐसा सभी ब्रह्म ज्ञानियों ने कहा है और; शास्त्रों में भी यही लिखा है। जब ब्रह्म ज्ञान की बात एक साधारण मनुष्य के मन में उठती है तो; वह सोचने लगता है कि - जैसे इतिहास की पुस्तक में इतिहास का ज्ञान है, भूगोल की पुस्तक में भूगोल का ज्ञान है; शायद इसी तरह ब्रह्म ज्ञान की पुस्तकों (वेद या रामायण या गीता इत्यादि) में ब्रह्म के ज्ञान हैं। और ब्रह्म के ज्ञान के लिए इनका अध्ययन करना मात्र यथेष्ट है। लेकिन

सत्य तो यह है कि; ब्रह्म ज्ञान किताबों में है ही नहीं।

कहने का अर्थ यह है कि ब्रह्म का ज्ञान उन्हें भी नहीं मिलता जो; ब्रह्म ज्ञान से सम्बन्धित किताबों के अध्ययन में अपने आपको बहुत निपुण समझते हैं।

यह ज्ञान तो एकमात्र जाग या होश के विकास से ही सम्भव है।

जो जाग गया - वह ज्ञानी हो गया। वह सब कुछ पा जायेगा। जागेगा सो पायेगा।

और अज्ञानी केवल वह है - जो सो रहा है, बेहोश है।

उसे जीवन में भौतिक विषयों के ज्ञान से जो थोड़ा बहुत मिलेगा - वह उसे संतुष्टि नहीं दे सकेगा। उसे हमेशा यह लगेगा कि उसे जो चाहिए; वह उसे अभी नहीं मिला। कारण केवल यह है कि; वह जाग नहीं सकता अर्थात्

जो सोवेगा सो खोवेगा।

आज का मनुष्य जितना व्यस्त है, हम अच्छी तरह से जानते हैं; वेद, गीता आदि को समझने के लिए, पहले संस्कृत का अच्छा अध्ययन करें - तब कहीं वेद आदि ग्रन्थों को समझ सकेंगे। आज के व्यस्त जीवन में यह असम्भव नहीं तो; अत्यन्त कठिन अवश्य है - यह समझना बहुत आसान है। उसे समझने हेतु आवश्यक योग्यता अर्जित करने का साहस एवं समय, किसी के पास नहीं है।

अतः ब्रह्म ज्ञान की ओर मुड़ने की कोई बात ही नहीं करता।

एक साधारण मनुष्य केवल घोर निद्रा, स्वप्न और जागृत अवस्थाओं में रहता है। वह इस गलतफहमी में रहता है कि; जागृत अवस्था ही पूर्ण जाग या होश की अवस्था है। लेकिन 'आध्यात्मिक शिक्षा' के लेख में यह दर्शाया गया है कि; संपूर्ण जाग तो उक्त निद्रा, स्वप्न और जागृति के अतिरिक्त; चार तरह की और जाग या होश (Consciousness) में बंटी हुई है।

किसी की जाग कम है और; किसी की ज्यादा।

इन अलग अलग स्तरों की जाग के कारण ही बाहर का जगत तुलनात्मक जगत (Relative Field) कहलाता है।

जिस दिन सारे मनुष्य एक स्तर की जाग के हो पावेंगे - उस दिन यह बाहर का सम्पूर्ण जगत; अन्दर के 'न बदलने वाले जगत' (Absolute field) का रूप ले लेगा - जो कि शायद असम्भव है।

प्रकृति ऐसी अवस्था की अनुमति नहीं देती। ब्रह्म का तत्व जब तक आत्मा के क्षेत्र में रहता है - तब तक सारे गुणों से परे; अर्थात् गुणातीत रहता है। जब मन इसे

अपने में ले लेता है; केवल तभी; इसके गुण सत्–चित्–आनन्द के रूप में मन में उभर आते हैं।

ब्रह्म का तत्व; एक सत्य है।

तुलनात्मक जगत् के अनन्त सत्य का यह आधार है। आग में यह सत्य–आग की जलन के रूप में है और; वायु में–वायु की ठंडक के रूप में। लेकिन यह तत्व एक मात्र मन में ही; सत्, चित् और आनन्द के रूप में उभरता है। चित्, संस्कृत का शब्द है – जिसका अर्थ जाग या होश (Consciousness) है।

जाग में ज्ञान है।

हम जैसे ही जग जाते हैं – हमें यह ज्ञान हो जाता है कि; इस समय ठंडक है या गर्मी, अंधेरा है या उजाला, हम घर में हैं या जंगल में इत्यादि। ऐसे सवालों का जवाब केवल जागने पर ही मिलता है; किताबें पढ़कर इन सवालों का उत्तर नहीं पाया जा सकता। ये उदाहरण हमें बताते हैं कि;

हर स्तर की जाग का एक अपना ज्ञान है।

स्वप्न के समय तरह तरह के उभरते हुए संस्कारों का ज्ञान हो जाता है। कुछ लोगों को स्वप्न टूटने के बाद भी उनकी याद बनी रहती है; और कुछ लोग भूल भी जाते हैं। लेकिन जितनी देर तक स्वप्न चलता रहता है – सभी को अपने उभरते हुए संस्कारों का ज्ञान रहता है। कभी कभी स्वप्न में तरह तरह की समस्याएं भी उत्पन्न हो जाती हैं; लेकिन स्वप्न के टूटते ही वे सारी समस्याएं खत्म हो जाती हैं – जो स्वप्न देखते समय थीं।

बिल्कुल इसी तरह से कथित जागृत अवस्था वाले मनुष्य के जीवन में चारों ओर दूर दूर तक तरह तरह की समस्याएं ही नजर आती हैं।

कुछ व्यक्तिगत; समस्या के रूप में, कुछ कुटुम्ब की समस्या के रूप में, कुछ सामाजिक समस्या के रूप में और; कुछ देश की समस्या के रूप में। संसार के ज्यादातर लोग इन समस्याओं को तर्क और विश्लेषण के आधार पर अलग अलग तरह से सुलझाने की कोशिश करते हैं। लेकिन जिन लोगों की आयु अधिक हो चुकी है – जैसे 60–70 या 80 साल की – वे आसानी से अनुभव करते हैं कि;

वर्षों बीत जाने पर भी ज्यों ज्यों इन समस्याओं को सुलझाने की कोशिश की जाती है– त्यों त्यों व्यक्ति; कुटुम्ब, समाज और देश की अधिक जटिल समस्याओं के जाल में फंसता ही चला जा रहा है। इसी सत्य को सारे महात्माओं ने अपने शब्दों में कहा है कि;

जीवन में माया (Illusion) एक ऐसा दलदल है – जिसमें फंसने के बाद मनुष्य निकलने के लिए जितना ही हाथ पैर चलाता है – उतना ही धंसता चला जाता है। कारण यह है कि; माया के दलदल से निकलने का रास्ता जागने में है – विश्लेषण या तर्क के आधार पर क्रियाएं बदलने में नहीं है।

प्रश्न उठता है कि हम कैसे जागें? इस प्रश्न का उत्तर मनुष्य, जब तक किताबों में ढूंढ़ता रहेगा या; किसी महात्मा या मनुष्य की बात मानकर चलने का प्रयास करेगा– तब तक; शायद नहीं मिलेगा। इसलिए लेखक तो उस दिशा की ओर केवल संकेत करना चाहता है – जिस ओर चलकर व्यक्ति अपने जीवन में स्वयं इस प्रश्न का उत्तर पा ले और; जिसे इसका उत्तर मिल गया – उसको रास्ते का ज्ञान हो गया। फिर उसके जीवन से वह, वापस नहीं जायेगा।

अधिकांश मनुष्य प्रातः जागने के बाद से सोने के समय तक क्रियाशील रहता है। ये क्रियायें बुद्धि के नियंत्रण में ही सम्भव हैं। अतः बुद्धि के नियन्त्रण में क्रिया करता हुआ मनुष्य; धीरे धीरे थकता जाता है – रात्रि में थककर वह सो जाता है। अतः क्रियाओं के समय वह धीरे धीरे थकावट और सोने की तरफ अग्रसर रहता है। यह कहा जा सकता है कि; क्रियायों में व्यस्त व्यक्ति – केवल सोने के रास्ते पर है।

One in the field of action, is in the process of sleeping.

जैसे ही वह सो जाता है, अर्थात् क्रिया न होने के कारण मन पर से बुद्धि का नियन्त्रण हट जाता है; उसकी चेतना धीरे धीरे (थकावट मिटाती हुई) जागने की ओर अग्रसर हो जाती है।

**One who is in a state of complete rest,
is in the process of waking**

कुछ देर सोने के बाद वह जग जाता है। इन बातों को उनकी गहराई में जाकर जो अपने जीवन में देख सकेगा - केवल उसी को इस ज्ञान का लाभ मिलेगा। यह ज्ञान या लाभ; केवल पढ़ने वाले को नहीं मिलेगा। हम लोगों ने इधर कुछ दिनों से 'ध्यान' का जो रास्ता पकड़ा है-वह उपरोक्त सिद्धान्त के आधार पर ही है।

इस प्रकार मन में धीरे-धीरे ब्रह्म का तत्व बढ़ता है।

दूसरे शब्दों में मन में सत्, चित् और आनन्द का उभार; और बढ़ता है।

चित् का उभरना ही जाग है।

जागते जागते जो मनुष्य भावातीत चेतना (Transcendental consciousness) की जाग पैदा कर लेता है - उसके जीवन में तथाकथित जागृत अवस्था की तमाम समस्याएं उसी तरह खत्म हो जाती हैं - जिस तरह स्वप्न के समय की सारी समस्याएं, स्वप्न टूटते या जागृत अवस्था में आने पर अपने आप समाप्त हो जाती हैं।

मन की जाग को बढ़ाने के लिए, मनुष्य को धीरे धीरे प्रयासहीनता (ध्यान) का समय बढ़ाना पड़ता है -बल्कि यों कहें कि वह समय स्वभावत: बढ़ने लगता है।

विश्लेषण और तर्क के आधार पर क्रियाओं के क्षेत्र में; हाथ पैर चलाने की तो कहीं, बात ही नहीं है। भावातीत चेतना की जाग बढ़ने के साथ साथ हर मनुष्य को यह सत्य साफ साफ दिखाई पड़ने लगता है और; उसके आगे की (ब्राह्मी, ईश्वरीय और अद्वैत चेतना) की ओर अग्रसर होने पर जीवन के सुख में कोई भी गलतफहमी (Ignorance) बाधा डालने में असमर्थ हो जाती है।

ऊपर ब्रह्म ज्ञान का रास्ता बताया गया है।

यह भी एक तरह की शिक्षा है। शिक्षा का हमेशा एक मूल आधार होता है - उसके पहले शिक्षा के शुरू होने का प्रश्न ही नहीं उठता। समाज में सभी बच्चे एक दिन; किसी-न-किसी स्कूल में शिक्षा पाने हेतु जाते हैं। लेकिन जब तक उनके मां बाप उसे चलना और बोलना नहीं सिखा देते - उसे स्कूल नहीं भेजते। तो चलना और बोलना या जानना; बच्चों की शिक्षा का मूल आधार हुआ।

ब्रह्म ज्ञान का मूल आधार साक्षात् ब्रह्म ही प्रदान करता है।

सारे बच्चे भावातीत क्षेत्र से (जो ब्रह्म तत्व का समुद्र है और ब्रह्म की दुनिया है); इस पृथ्वी पर जिस पथ द्वारा आते हैं - उस रास्ते का नाम मां बाप है।

सभी बच्चे भावातीत क्षेत्र से ब्रह्म ज्ञान के लिए ही;

इस पृथ्वी पर आते हैं।

समाज के बच्चे; भौतिक क्षेत्र के ज्ञान के लिए स्कूल जाते हैं। स्कूल में जाने के पहले (जैसा ऊपर बताया गया है), शिक्षा का मूल आधार उनके मां बाप देते हैं। उसी तरह से

जो बच्चा ब्रह्म ज्ञान हेतु पैदा होता है; उसका मूल आधार ब्रह्म प्रदान करके, तब पृथ्वी पर भेजता है।

यह मूल आधार है -सुषुप्ति, स्वप्न और जागृत अवस्था की शक्ति - जिसमें भावातीत चेतना पिरोयी होती है। इसलिए बच्चा पहले दिन से ही सोता और जागता है। चेतना की इन अवस्थाओं में भावातीत चेतना काफी मात्रा में पिरोयी हुई होती है। और भावातीत चेतना में ब्रह्म का तत्व उन मनुष्यों की तुलना में बहुत ज्यादा है- जो केवल जागृत अवस्था में हैं -

केवल इसीलिए बच्चे ईश्वर स्वरूप कहलाते हैं।

अब यह समझना कितना आसान है कि; शुरू की तीन चेतनाएं; जिनमें हर मनुष्य पैदा होता है - हमारे ब्रह्म ज्ञान का मूल आधार हैं। जब बच्चे एक बार स्कूल में प्रवेश पा लेते हैं - तो उनमें से कुछ हर साल पास होकर आगे की कक्षा में बढ़ते जाते हैं। लेकिन कुछ एक ही कक्षा में पड़े रहते हैं। लेकिन

ब्रह्म ज्ञान और विद्यालयों के ज्ञान में, एक बहुत बड़ा अन्तर है।

ब्रह्म ज्ञान के रास्ते पर; या तो मनुष्य ऊपर की ओर उठता है; या नीचे पतन की ओर अग्रसर होता है। ऊपर उठने को जीवात्मा का उत्थान कहते हैं और; ऐसे लोगों को भौतिक शिक्षा मिले, या न मिले - दोनों ही अवस्थाओं में ये अजेय और अमर होते हैं। राम कृष्ण परमहंस और शंकराचार्य आध्यात्मिक शिक्षा के ऐसे ही उदाहरण हैं।

यह पृथ्वी बहुत बड़ा विद्यालय है।

पृथ्वी पर आने के बाद जिन बच्चों को आध्यात्मिक शिक्षा का सही रास्ता नहीं मिलता; केवल उनके लिए ही अपना जीवन चलाने के लिए भौतिक शिक्षा अनिवार्य हो जाती है। दूसरे शब्दों में भौतिक शिक्षा; केवल पतन के रास्ते पर जाने वालों के लिए अनिवार्य है। पतन के इस रास्ते पर भौतिक क्षेत्र की, चाहे जितनी बड़ी बड़ी शिक्षाएं किसी को क्यों न मिल जायें – वह जीवन की परेशानियों और दुखों के दलदल में फंसता ही चला जाता है; उनसे उभर कर निकल नहीं पाता।

हमने देखा कि जीवन को अंधेरे से निकालने वाला ज्ञान; केवल जागने में है। किताबों के पढ़ने में नहीं; चाहे वे किताबें ऐसे ग्रन्थ ही क्यों न हों – जिनमें किसी महान पुरुष ने ब्रह्म ज्ञान से सम्बन्धित अपने अनुभव ही क्यों न लिख दिए हों। अतः

एक मात्र ब्रह्म ज्ञान की ओर मनुष्य को मोड़ने वाला; या यह कहें कि उच्च स्तर की जाग की ओर ले जाने वाला व्यक्ति, ही गुरु है।

किताबों के अध्ययन के आधार पर शिक्षा देने वाला तो हमेशा शिक्षक ही रहता है– चाहे किताब भौतिक ज्ञान से सम्बन्धित हो; और चाहे ग्रन्थों के ज्ञान से। एक बात हम फिर समझ लें कि ग्रन्थों का ज्ञान – ग्रन्थों के अध्ययन में है; लेकिन

आध्यात्मिक ज्ञान एक मात्र जागने में है।

जो मनुष्य जागृत अवस्था में है और काफी लम्बे समय तक ध्यान का अभ्यास करता रहा है; धीरे धीरे जिसकी भावातीत जाग जागृत हो जाती है – उसके मन में ब्रह्म का तत्व या गुरु तत्व; उस मनुष्य की तुलना में बहुत अधिक होता है– जो कि केवल जागृत अवस्था में है। ध्यान का रास्ता न मिलने के कारण, जन्म के बाद जाग को कभी बढ़ा नहीं पाया। इसलिए समय बीतने के साथ साथ उसकी जाग उतनी भी नहीं रह जाती; जितनी जन्म के समय थी। जो बड़े बड़े प्रोफेसर महाविद्यालयों में शिक्षा देते हैं – वे छोटे छोटे स्कूल कालेजों में नहीं पढ़ाते। बिल्कुल इसी तरह से जिनके मन में गुरु तत्व इतना आ जाता है कि, वे अद्वैत चेतना में पहुंच जाते हैं – वे ब्राह्मी चेतना अथवा ईश्वरीय चेतना वालों के गुरु बन

जाते हैं; लेकिन एक साधारण व्यक्ति का गुरु नहीं बनते। अर्थ यह निकला कि; जिस प्रकार से समाज में हर स्तर के शिक्षक पाये जाते हैं – उसी प्रकार से अध्यात्म के क्षेत्र में भी हर स्तर के गुरु होते हैं। लेकिन महत्वपूर्ण बात यह है कि

शिक्षक कभी भी गुरु नहीं बन सकता।

यदि कोई उसे गुरु बनाना चाहता है, तो वह उसे स्वीकार जरूर कर सकता है – लेकिन गुरु तो कभी शिक्षक की अवस्था स्वीकार ही नहीं करता। जो उच्च स्तर के गुरु हैं – वे तो एकमात्र जागने में विश्वास रखते हैं और; बाकी सारे विश्वास उनके जीवन से खो जाते हैं। इसी सत्य को अलग अलग महात्माओं ने भिन्न भिन्न शब्दों में व्यक्त किया है – कोई कहता है – जिसे ईश्वर मिल गया उसे सब कुछ मिल गया; तो कोई कहता है कि – ब्रह्म ज्ञान के बाद किसी ज्ञान की जरूरत नहीं होती। इन सबका मतलब एक ही है।

गुरु की उपरोक्त परिभाषा हमें यह बताती है कि; गुरु एक विशेष वर्ग के व्यक्ति हैं। गुरु; हमेशा गुरु ही रहते हैं – चाहे वे किसी व्यक्ति विशेष के गुरु बनें; या न बनें। गुरु कहलाने के लिए किसी व्यक्ति विशेष को दीक्षा देना अनिवार्य नहीं होता। ऊपर बताए गए अध्यात्म के ज्ञान की कमी में; यदि कोई किसी शिक्षक को गुरु मान ले – तो इससे वह गुरु नहीं हो जाता।

हमारा देश आध्यात्मिक देश रहा है।

यहां पर जितना मान इन गुरुओं का रहा है – उतना किसी का नहीं रहा। इस सत्य का अनुभव हमें रामायण और महाभारत के सीरियल देखने से भी होता है। यहां के लोग यह जानते थे कि; समाज की जो भी खुशियां – जिस युग में भी थीं – वे केवल इन गुरुओं के कारण थीं। इसलिए यह गुरु वर्ग समाज से कभी समाप्त न हो जाये; केवल इसीलिए इस वर्ग को सम्मानित करने के लिए, साल में एक दिन निश्चित कर दिया गया और; उस दिन को गुरु पूर्णिमा कहते हैं। गुरु पूर्णिमा; केवल अपने गुरु की पूजा करने का दिन नहीं होता। जैसा ऊपर बताया गया है – गुरु एक वर्ग है – जैसे शिक्षक एक वर्ग है। केवल उस वर्ग के व्यक्तियों का महत्व बनाए रखने के लिए ही; गुरु पूर्णिमा के दिन पूजा सदा से होती रही है।

आज के युग में एक बहुत बड़े महात्मा महर्षि महेश योगी के यहां जब भी किसी को दीक्षा दी जाती है – तो दीक्षा गुरु पूजा के बाद ही दी जाती है। यदि इस गुरु पूजा के शब्दों पर हम ध्यान दें तो; हमें पता चलेगा कि जबसे इस पृथ्वी का इतिहास शुरू होता है – उस समय से जो बड़े बड़े गुरु इतिहास में हुए; तब से जब तक कि उनके गुरु स्वामी ब्रह्मानन्द ने समाधि नहीं ले ली – सारे उच्च गुरुओं का नाम गुरु पूजा में देखने को मिलता है। इस तरह हम देखते हैं कि; उनके यहां जिस गुरु पूजा के साथ दीक्षा दी जताी है – वह महर्षि जी की पूजा नहीं, बल्कि सारे गुरु वर्ग की पूजा है। कुछ लोग यह कह सकते हैं कि; गुरु पूर्णिमा के दिन तो उनके यहां उनकी ही पूजा होती है – लेकिन ऐसा कहने वाले कुछ अन्धकार में हैं।

पूजा किसकी होती है?

यह तो पूजा के शब्द ही स्पष्ट कर देते हैं। यदि कोई पूजा समारोह का रूप धारण कर लेती है तो; उस समारोह के मुखिया के लिए यह नहीं कहा जा सकता कि, यह पूजा उसकी पूजा है। उनके यहां की गुरु पूजा के शब्द याद दिलाते हैं कि;

गुरु पूजा, हमेशा ही गुरु वर्ग की होती है।

पहले उद्धृत श्लोक का अर्थ समझते हुए हम लोगों ने यह देखा था कि; ब्रह्म ही गुरु है। ब्रह्म; दो हाथ पैर के मनुष्य के रूप में समाज में रहे – इसकी सम्भावना नहीं है। वे तो केवल भावातीत क्षेत्र (Transcendental Field) की शक्ति के रूप में रहते हैं। यह शक्ति इस पृथ्वी के मनुष्यों के मन की शक्ति के रूप में प्रकट होती है और; मन की शक्ति की अवस्था के अनुसार समाज में बहुत से दो हाथ पैर के मनुष्य के रूप में गुरु मिलते हैं – लेकिन जेसा कि उद्धृत चौपाई में बताया गया है कि; बिना गुरु के कोई भव सागर से तर नहीं सकता। इसका सही अर्थ यही है कि;

बिना ब्रह्म तत्व के ज्ञान के, कोई तर नहीं सकता।

यहां तक कि ब्रह्मा और शंकर के समान मनुष्य भी नहीं। सत्य तो यह है कि; ब्रह्मा और शंकर तो ब्रह्म तत्व से पूर्ण हैं। इसीलिए यह माने लगाना बिल्कुल ही गलत होगा कि; ब्रह्मा और शंकर को भी कोई दो हाथ पैर वाला गुरु चाहिए। सत्य तो यह

है कि – जब अपूर्ण; पूर्णता की ओर बढ़ता है और; जब तक पूर्ण नहीं हो जाता– तब तक उसे ब्रह्म का तत्व लेते ही रहना पड़ता है। अन्तिम चेतना; अद्वैत चेतना कहलाती है; बिल्कुल ऐसे ही जैसे कि महाविद्यालय में 17वीं कक्षा अन्तिम कक्षा होती है। लेकिन बच्चा जिस दिन इस कक्षा में प्रवेश करता है – उसके लगभग एक साल बाद ही उस कक्षा को पास करके निकलता है।

इसी प्रकार जो लोग अद्वैत चेतना में होते है –

वे ईश्वर स्वरूप, ब्रह्म स्वरूप और शंकर स्वरूप कहे जाते हैं।

लेकिन ब्रह्म स्वरूप; शंकर भी बिना ब्रह्म का तत्व लिए पूर्ण नहीं होते। ऐसे मनुष्य के लिए यह सोचना कि; ऐसे लोगों को भी कोई दो हाथ पैर वाला मनुष्य गुरु रूप में चाहिए – बहुत ही गलत होगा। केवल नीची चेतना की अवस्थाओं में ही कोई ऐसा सोच सकता है। पूर्व उद्धृत चौपाई का अर्थ यही है कि;

बिना ब्रह्म के तत्व के तो, कोई भी तर नहीं सकता।

लेकिन जो लोग केवल जागृत अवस्था में हैं – उन्हें इन दो हाथ पैर वाले गुरु की आवश्यकता निश्चय ही है – जो उनका मार्ग दर्शन कर सके कि; उनका मन ब्रह्म का तत्व कैसे ले? लेकिन शंकराचार्य और परमहंस के लिए यह कहना कि; उन्हें कोई व्यक्ति मिल गया था – जिनकी वजह से वे तर गए – यह केवल एक हंसने वाली बात होगी। ऐसे मनुष्यों के जीवन में उक्त चौपाई का केवल यही अर्थ होगा कि; बिना ब्रह्म के तत्व के कोई नहीं तर सकता।

आध्यात्मिक शिक्षा के लिए गीता कहती है कि इस क्षेत्र में आगे बढ़ने के लिए, सांख्य और योग; दोनों ही अनिवार्य हैं।

ध्यान का अभ्यास ही योग है।

योग का यह रास्ता बहुत लम्बा है और; पूर्ण रूप से जागृत होने के लिए – न मालूम कितने साल ले सकता है। सौ साल तक भी ध्यान करने की आवश्यकता पड़ सकती है। बहुत से व्यक्तियों के जीवन में यह एक साल में भी हो सकता है। लेकिन; कुछ के लिए एक से ज्यादा जन्म भी कम पड़ सकते हैं। शंकराचार्य जैसे

व्यक्ति इतनी कम आयु में ही इतने बड़े बड़े काम कर सके और शरीर छोड़ दिया। इसका यह एक ज्वलन्त उदाहरण है कि उन्होंने अपने उत्थान का अधिकतम भाग, अपने पिछले जन्म में ही पूरा कर लिया था। ऐसा ही परमहंस की जीवनी से भी प्रतीत होता है। जिस प्रकार से विद्यालय से केवल उन विद्यार्थियों के मन में शंकाएं उत्पन्न होती रहती हैं – जो मन, लगाकर पढ़ाई लिखाई में लगे रहते हैं और; उन्हीं को शंका का निवारण करने वाले की आवश्यकता भी रहती है। बिल्कुल उसी प्रकार से जो व्यक्ति अपने आपको जागने के इस लम्बे रास्ते पर व्यस्त कर देते हैं; केवल उन्हीं के मन में इस रास्ते की तरह तरह की शंकाएं पैदा होती हैं और; उनहें ही अपनी शंकाओं का निवारण करने वाले की आवश्यकता होती है। यह कार्य केवल आपस में बातचीत (सत्संग) करके ही सम्भव है।

ऊंची जाग की अवस्था वाले कम ऊँची जाग वाले मनुष्यों को सिद्धान्त के विभिन्न पहलुओं का ज्ञान देते रहते हैं – जिससे वे शिष्य जाग के रास्ते पर तेजी से आगे बढ़ सकें। यही सांख्य है; और इनकी व्याख्या गुरु और शिष्य की अवस्थाओं में जो अन्तर है – उसके आधार पर हर युग में बदलते रहते हैं।

यही गुरु का सबसे बड़ा प्रसाद होता है।

यों प्रसाद का शाब्दिक अर्थ तो यही है कि; हम जो कुछ भी प्रसन्नतापूर्वक दे सकें। लेकिन जिस प्रकार से विद्यालय में शिक्षकों को सबसे अधिक प्रसन्नता तो तभी होती है; जब वे अपने विद्यार्थियों को अच्छे से अच्छे नम्बरों से उत्तीर्ण कराने में सफल हो जाते हैं। ठीक उसी प्रकार से एक गुरु को सबसे अधिक प्रसन्नता तो केवल उन शिक्षाओं को देने से मिलती है – जो उनके शिष्यों को कम से कम समय में ऊँची से ऊँची जाग प्राप्त करने में मदद कर सके। किसी एक गुरु के पास; एक से ज्यादा शिष्य भी हो सकते हैं और; सारे शिष्यों के लिए गुरु की इच्छा शक्ति एक समान काम करे – ऐसा हमेशा नहीं होता – अध्यात्म का इतिहास यही बताता है। इसलिए अध्यात्म के इतिहास में ऐसे बहुत से उदाहरण मिलते हैं – जहां शिष्य अपने गुरु का मन जीतने के लिए हमेशा प्रयत्नशील रहते हैं।

गुरु की शक्ति तो उसकी इच्छा शक्ति ही होती है।

उनकी यह इच्छा शक्ति, उन शिष्यों के लिए अधिक प्रभावशाली होती है –जो उनके मन को जीत लेते हैं। इसी आधार पर सांख्य की शिक्षा; कहीं पर ज्यादा अच्छा और; कहीं कम अच्छा प्रभाव डालती है। यहां पर तो लेखक; केवल यही बताना चाहता है कि – गुरु की शिक्षा ही; गुरु का सबसे बड़ा प्रसाद होता है।

यह प्रसाद उस शिष्य को अवश्य मिलता है – जो उसका पात्र होता है।